शहीद मुर्तज़ा मुतह्हरी

जिहाद

आयतुल्लाह
शहीद मुर्तज़ा मुतह्हरी
ट्रांस्लेशनः अब्बास असग़र शबरेज़

किताब :	**जिहाद**
राइटर :	**शहीद मुर्तज़ा मुतह्हरी**
ट्रांस्लेटर :	**अब्बास असग़र शबरेज़**
पहला प्रिन्ट :	**मार्च 2017**
तादाद :	**2000**
पब्लिशर :	**ताहा फ़ाउंडेशन, लखनऊ**
प्रेस :	**न्यु लाइन प्रॉसेस, दिल्ली**
क़ीमत :	**25 रूपए**

+91-9956620017
8090775577

अपनी बात

बहुत पहले से ही बहुत से नॉन–मुस्लिम कोशिश करते चले आ रहे हैं कि इस्लाम को तलवार से फैलने वाला धर्म साबित कर दिया जाए। इस्लाम दुनिया में बहुत तेज़ी से फैल रहा था जो दुश्मन से देखा नहीं गया इसलिए उसने दुनिया भर में यह प्रोपेगण्डा करना शुरू कर दिया कि मुसलमानों ने ज़ोर–ज़बरदस्ती से और ताक़त के बल पर इस्लाम को लोगों से क़ुबूलवाया है।

इस्लामी क़ानून व शरीअत (Islamic Law) की गहराई और असलियत को न समझ पाने वाले कुछ मुसलमान भी इस प्रोपेगण्डे का शिकार हो गए और आज भी बहुत से इसी में उलझे हुए हैं।

इस सदी में इस्लामी जगत ने एक नई करवट ली है और बहुत से इस्लामी मुल्कों की मुसलमान जनता में इस्लाम के झंडे तले वापस आने का शौक़ देखने में आ रहा है। बहुत से इस्लामी मुल्कों की जनता अपने मुल्क में इस्लाम का पॉलिटिकल, फ़ाइनेंशल और सोशल सिस्टम लागू करने पर अड़ गई है। उधर जिन लोगों को इस इस्लामी सिस्टम से अपनी रोज़ी–रोटी बन्द हो जाने का ख़तरा है वह अपनी भरपूर ताक़त से एक बार फिर अपने उसी पुराने हथियार के साथ मैदान में आ गए हैं और इस्लाम की दूसरी सारी टीचिंग्स को अपना निशाना बनाते हुए इस्लाम के एक बड़े क़ानून ‘‘जिहाद’’ पर भी

हमला बोल रहे हैं। इन लोगों की सारी कोशिश यह है कि इस्लाम के जिहाद वाले क़ानून को बस किसी तरह से आतंकवाद से जोड़ दिया जाए और यह साबित कर दिया जाए कि जिहाद आतंकवाद के जैसी ही एक चीज़ है।

जो किताब आपके हाथों में है यह जिहाद के बारे में आयतुल्लाह शहीद मुर्तज़ा मुतह्हरी की वह चार स्पीच हैं जो उन्होंने 1972 में ईरान की राजधानी तेहरान की एक मस्जिद में होने वाले वीकली प्रोग्राम में दी थीं। इन में शहीद मुतह्हरी ने बड़ी ही आसान ज़बान में क़ुरआन करीम की आयतों को सामने रखकर जिहाद के बारे में बड़ी अच्छी और बड़ी गहरी बातें कही हैं। शहीद मुतह्हरी ने इस किताब में जिहाद पर उठाए जाने वाले बहुत सारे सवालों के बड़े सटीक जवाब दिए हैं।

अपने साइज़ और अपने अन्दाज़ के हिसाब से छोटी और हल्की-फुल्की मगर मतलब के हिसाब से यह शानदार किताब पढ़ने वालों को ज़रूर अपनी तरफ़ खींचेगी।

ताहा फ़ाउण्डेशन

लखनऊ

Contents

(2)

(3)

(4)

(1)

قَاتِلُوا الَّذِينَ لَا يُومِنُونَ بِاللهِ وَلَا بِالْيَومِ الآخِرِ

وَلَا يُحَرِّمُونَ مَا حَرَّمَ اللهُ وَرَسُولُہ

وَ لَا يَدِينُونَ دِينَ الحَقِّ مِنَ الَّذِينَ أُوتُواالكِتَابَ حَتّٰى يُعطُوا الجِزيَةَ عَن يَّدٍوَّهُم صَاغِرُونَ[1]

> उन लोगों से जिहाद करो जो अल्लाह और क़यामत पर ईमान नहीं रखते और जिस चीज़ को अल्लाह और उसके रसूल ने हराम बताया है उसे हराम नहीं समझते और *अहले किताब* होते हुए भी दीने हक़ (अल्लाह के भेजे हुए धर्म) पर नहीं चलते... यहाँ तक कि तुम्हारे सामने अपना सर झुका दें और अपने हाथों से जिज़्या[2] देने पर तैयार हो जाएँ।

यह आयत *अहले किताब* के बारे में है।

अहले किताब उन नॉन-मुस्लिमों को कहते हैं जो आसमानी किताबों में से किसी एक किताब को मानते हैं जैसे यहूदी, ईसाई और शायद मजूसी भी।

यह आयत *अहले किताब* से जंग के बारे में है लेकिन इस आयत में यह नहीं कहा जा रहा है कि *अहले किताब* से जंग करो बल्कि कहा जा रहा है कि उन लोगों से जंग करो जो अल्लाह पर ईमान नहीं रखते हैं, क़यामत पर ईमान नहीं रखते हैं, हलाल-हराम को कुछ नहीं समझते हैं [यानि अल्लाह के हराम को हलाल कर लेते हैं] और दीने हक़ (अल्लाह के भेजे हुए धर्म)

---

[1] सूरए तौबा/29

[2] जिज़्ये पर हम आगे चलकर बात करेंगे

पर नहीं चलते हैं। जो भी ऐसे लोग हों उनसे जंग करने का हुक्म दिया जा रहा है लेकिन जंग तभी करना है जब वह *जिज़्या* (इस्लामी टैक्स) न दें। अगर *जिज़्या* दे दें और तुम्हारे सामने अपना सर झुका लें तो फिर इन से जंग मत करना।

इस आयत के बारे में कुछ सवाल भी उभरते हैं। आइए! इन सवालों के जवाब क़ुरआन करीम की दूसरी आयतों की मदद से ढूँढते हैं।

(1) अहले किताब[1] से जंग का हुक्म *कंडीश्नल* है या *अन्कंडीश्नल*?

इस आयत के बारे में पहला सवाल यह है कि ''*उन लोगों से जिहाद करो जो अल्लाह पर ईमान नहीं रखते*'' का क्या मतलब है? क्या इसका मतलब यह है कि हम ख़ुद ही जंग शुरू कर दें या इसका मतलब यह है कि जब उनकी तरफ़ से जंग शुरू हो जाए तब हम भी हमला बोल दें। दूसरे शब्दों में उलमा की ज़बान में यूँ कहें कि क्या यह आयत *कंडीश्नल* है या *अन्कंडीश्नल*? क्या क़ुरआन में दूसरी और आयतें भी हैं जो *कंडीश्नल* हैं? और क्या ज़रूरी है कि *अन्कंडीश्नल* आयत को *कंडीश्नल* आयत से जोड़कर हुक्म निकाला जाए?

---

[1] *अहले किताब* उन नॉन-मुस्लिमों को कहते हैं जो आसमानी किताबों में से किसी एक किताब को मानते हैं जैसे यहूदी, ईसाई और शायद मजूसी भी।

कंडीश्नल–अन्कंडीश्नल फ़ार्मूला

(Conditional–Unconditional Formula)

आइए! पहले क़ुरआन की आयतों से जुड़े इस फ़ार्मूले को समझते हैं। अगर हम ने इस फ़ार्मूले पर ध्यान नहीं दिया तो इस आयत का मतलब पूरी तरह से नहीं समझ पाएँगे।

हो सकता है कि कोई हुक्म या कोई क़ानून –चाहे किसी इन्सान का बनाया हुआ क़ानून ही क्यों न हो– बिना किसी शर्त के (*अन्कंडीश्नल*) बनाया गया हो और वही क़ानून दूसरी जगह बयान किया गया हो तो उसमें कोई शर्त लगी हो (*कंडीश्नल*) और हम सब यह बात जानते हैं कि यह क़ानून बनाने वाला इन दोनों तरह की बातों से एक ही बात कहना चाहता है। अब हम क्या करें ? उस *अन्कंडीश्नल* क़ानून को ले लें और यह मान लें कि दूसरी जगह जो *कंडीश्नल* हुक्म बयान हुआ है उसकी कोई ख़ास वजह रही होगी या इसके उलट उस *अन्कंडीश्नल* को *कंडीश्नल* पर फ़िट कर लें और *कंडीश्नल* क़ानून पर चलना शुरू कर दें ?

आइए! इस आसान सी मिसाल को देखिए। एक ऐसा आदमी आपको हुक्म देता है जिसके हुक्म को आप बड़ी इज़्ज़त की निगाह से देखते हैं। यह आदमी एक ही हुक्म दो अलग–अलग वक़्त में दो तरह से देता है। एक बार आपसे कहता है कि उस आदमी की इज़्ज़त करो। यह हुक्म *अन्कंडीश्नल* है यानि उसने अपने इस हुक्म में किसी भी तरह की कोई शर्त नहीं लगाई है। बस इतना कहा है कि उस आदमी की इज़्ज़त करो।

यही आदमी एक दूसरी जगह आपसे कहता है कि अगर वह आदमी हमारे प्रोग्राम में आए तो उसकी इज़्ज़त करो। यहाँ जब उस आदमी ने आपको हुक्म दिया तो साथ में एक ‘‘अगर’’ भी लगा दिया। उसने आपको *अन्कंडीश्नल* हुक्म नहीं दिया कि बस उसकी इज़्ज़त करो

बल्कि कहा कि अगर वह हमारे प्रोग्राम में आए तो उसकी इज़्ज़त करो।

इस मिसाल में पहला हुक्म *अन्कंडीश्नल* है यानि उसमें कोई शर्त नहीं लगी है जिसका मतलब यह होता है कि वह चाहे हमारे प्रोग्राम में आए या न आए, हर हाल में उसकी इज़्ज़त करो लेकिन दूसरा वाला हुक्म *कंडीश्नल* है जिसका मतलब यह निकलता है कि अगर वह प्रोग्राम में आए तो उसकी इज़्ज़त करना और अगर न आए तो इज़्ज़त मत करना।

उलमा कहते हैं कि जब एक ही हुक्म दो तरह से दिया जाए तो *अन्कंडीश्नल* को भी *कंडीश्नल* मान लिया जाता है।

जिहाद वाली आयतों में *अन्कंडीश्नल व कंडीश्नल फ़ार्मूला*

इस ऊपर वाली आयत में हुक्म दिया गया है कि उन लोगों के साथ जंग करो जो अल्लाह, क़यामत और किसी भी धर्म को नहीं मानते हैं और न ही अल्लाह के हराम को हराम समझते हैं लेकिन एक दूसरी आयत में इस तरह से हुक्म दिया गया हैः

قَاتِلُوا فِي سَبِيلِ اللهِ الَّذِينَ يُقَاتِلُونَكُمْ[1]

> जो लोग तुम से जंग करते हैं तुम भी अल्लाह के लिए उनसे जंग करो।

यहाँ जंग करने का जो हुक्म दिया जा रहा है इसके क्या मायनी हैं? क्या अल्लाह यह कह रहा है कि जब वह तुम से जंग करें तो पलट कर तुम भी उनसे जंग करो या इसके उलट यह हुक्म *अन्कंडीश्नल* है यानि चाहे

---

[1] सूरए बक़रा/190

वह तुम से जंग करें या न करें, हर हाल में उन से जंग करो ?

यहाँ दोनों बातें कही जा सकती हैं। एक यह कि हम यह मान लें कि यह हुक्म *अन्कंडीश्नल* है क्योंकि *अहले किताब* मुसलमान ही नहीं होते। इसलिए हम उनसे जंग कर सकते हैं। हम नॉन–मुस्लिमों से तब तक जंग कर सकते हैं जब तक कि वह हमारे सामने अपना सर न झुका दें।

अगर नॉन–मुस्लिम *अहले किताब* न हों तो हमें उनसे तब तक जंग करना चाहिए जब तक कि वह मुसलमान न हो जाएँ और अगर मुसलमान नहीं होते तो उन्हें जंग के मैदान में ही क़त्ल कर दें। और अगर *अहले किताब* हों तो उनसे तब तक जंग करना चाहिए जब तक कि वह मुसलमान न हो जाएँ और अगर मुसलमान नहीं होते तो उन्हें हमारे सामने अपनी हार मानना होगी और उसके बाद जिज़्या (इस्लामी टैक्स) देना होगा।

जिन लोगों का कहना है कि यह आयत *अन्कंडीश्नल* है वह इसी थ्योरी को मानते हैं।

लेकिन जो लोग इस आयत को *अन्कंडीश्नल* नहीं मानते वह कहते हैं कि क़ुरआन में जिहाद के बारे में जो दूसरी आयतें आई हैं उन सब को एक साथ सामने रखें तो रिज़ल्ट यही निकलता है कि यह आयत *अन्कंडीश्नल* नहीं है।

जिहाद कहाँ–कहाँ जायज़ है ?

एक बार सामने वाला आपसे जंग करना चाहता है या इस्लाम के रास्ते में रूकावटें खड़ी कर रहा है यानि इस्लाम को फैलने नहीं दे रहा है। अगर ऐसा हो तो इस्लाम हुक्म देता है कि इस रूकावट को जड़ से उखाड़ फैंको या अगर उन लोगों ने किसी समाज को अपने

ज़ुल्म व अत्याचार में जकड़ रखा हो तो भी उनसे जंग करो और इन बेचारों को उनके ज़ुल्म से बचाओ। नीचे लिखी इस आयत में इसी बात का हुक्म दिया जा रहा है:

وَمَا لَكُمْ لَا تُقَاتِلُونَ فِي سَبِيلِ اللهِ وَالْمُسْتَضْعَفِينَ مِنَ الرِّجَالِ وَالنِّسَاءِ وَالْوِلْدَانِ[1]

> आख़िर तुम्हें क्या हो गया है कि तुम अल्लाह के लिए और इन कमज़ोर मर्दों, औरतों और बच्चों के लिए जिहाद नहीं करते हो?

इस सवाल का जवाब अभी हम आपको नहीं देंगे। पहले उन सारी आयतों पर एक नज़र डाल लेते हैं जो जिहाद के बारे में हैं। यह सारी आयतें सामने आ जाएँ तो फिर देखते हैं कि क्या रिज़ल्ट निकल कर आता है।

(2) क्या *अहले किताब* से जंग की जा सकती है?

दूसरी बात यह है कि इस आयत ने यह हुक्म नहीं दिया है कि तुम्हें *अहले किताब* से जंग करना है बल्कि आयत कह रही है कि उन लोगों से जंग करना है जो न अल्लाह को मानते हैं और न उसके भेजे हुए रसूल को, न किसी हराम को हराम समझते हैं और न अल्लाह के भेजे धर्म पर ही चलते हैं। तो फिर आख़िर इस आयत का मतलब क्या है?

क्या इस आयत का मतलब यह है कि अगर कोई *अहले किताब,* चाहे यहूदी हो या ईसाई या किसी भी दूसरे धर्म का मानने वाला जो अल्लाह और उसके रसूल को नहीं मानता है और न ही हराम–हलाल और अल्लाह के भेजे दीने हक़ (अल्लाह का भेजा हुआ धर्म) को मानता है, वह अगर दावा करे कि वह अल्लाह को मानता है तो क्या वह झूठ बोल रहा है? क्या क़ुरआन

---

[1] सूरए निसा/75

यह कहना चाह रहा है कि यह सारे *अहले किताब* अल्लाह पर ईमान का दावा तो करते हैं मगर यह झूठ बोलते हैं और अल्लाह पर इनका कोई ईमान नहीं है? हम अपनी बात शायद इस तरह से भी कह सकते हैं कि वह हज़रत ईसा[अ०] के बारे में कहते हैं कि ईसा मसीह ख़ुदा हैं या ख़ुदा के बेटे हैं जिसका मतलब यह है कि उनका अल्लाह पर कोई ईमान नहीं है। इसी तरह जो कुछ यहूदी ख़ुदा के बारे में कहते है उससे भी यह साबित होता है उनका ख़ुदा भी वह ख़ुदा नहीं है जो असलियत में ख़ुदा है क्योंकि उनका कहना है किः

يَدُ اللهِ مَغلُولَةٌ[1]

अल्लाह का हाथ बंधा हुआ है।

यहूदियों के बारे में इस आयत का मतलब यही है कि वह भी अल्लाह पर सही ईमान नहीं रखते हैं। और इसी तरह दूसरे सारे *अहले किताब* के बारे में भी कहा जा सकता है कि वह भी अल्लाह पर सही ईमान नहीं रखते।

अगर हम यह बात कहते हैं तो इसका मतलब यह निकलेगा कि क़ुरआन अल्लाह और क़यामत पर नॉन–मुस्लिमों के ईमान को नहीं मानता है। सवाल यह है कि क्यों नहीं मानता है? इसलिए नहीं मानता है क्योंकि उनके ईमान में कमी है। एक ईसाई –कम से कम उनका पढ़ा–लिखा क्लास– 'ख़ुदा' तो कहता है बल्कि 'एक ख़ुदा' भी कहता है मगर इसके साथ ही साथ हज़रत ईसा[अ०] और हज़रत मरयम[अ०] के बारे में ऐसी–ऐसी बातें भी करता है जिससे तौहीद पर उसका ईमान ढुलमुल हो जाता है। कुछ उलमा इसी थ्योरी को मानते हैं। इन उलमा का मानना है कि अगर क़ुरआन कहता है कि *अहले किताब* से जंग करो तो इसका मतलब यही है कि सारे *अहले किताब* से जंग करो क्योंकि अल्लाह पर

---

[1] सूरए माएदा/64

उनमें से किसी का भी ईमान सही नहीं है, न ही क़यामत पर उनका ईमान सही है और न ही हलाल–हराम के बारे में उनका ईमान पक्का है। इन उलमा का यह भी मानना है कि इस आयत में 'रसूल' शब्द आया है जिसका मतलब हमारे आख़िरी रसूल ही हैं और दीने हक़ यानी वह धर्म जिस पर आज के इन्सानों को चलना चाहिए, वह धर्म नहीं जिस पर पिछले वाले लोग चल रहे थे।

लेकिन उलमा का एक दूसरा ग्रुप कहता है कि क़ुरआन की इस आयत ने *अहले किताब* को दो ग्रुप में बाँट दिया है। क़ुरआन कहना चाहता है कि सारे *अहले किताब* एक जैसे नहीं हैं। कुछ *अहले किताब* सच में अल्लाह पर ईमान रखते हैं जिनसे तुम्हें कुछ नहीं कहना है। कुछ *अहले किताब* सच में क़यामत पर ईमान रखते हैं और इन से भी तुम्हें कोई मतलब नहीं होना चाहिए। जो *अहले किताब* अल्लाह के क़ानून पर चलते हैं उनसे भी तुम्हें जंग नहीं करना है लेकिन *अहले किताब* में कुछ लोग ऐसे भी हैं जो बस नाम के *अहले किताब* हैं और अल्लाह व क़यामत पर उनका ईमान सही नहीं है। यह लोग अल्लाह के हराम को –वही जो उनके धर्म में हराम है– भी हराम नहीं मानते हैं। इन लोगों से जंग करना है। इसका मतलब यह हुआ कि सारे *अहले किताब* से जंग नहीं करना है बल्कि *अहले किताब* के बस एक ग्रुप से जंग करना है।

(3) जिज़्या क्या है?

तीसरा सवाल ''जिज़्या'' के बारे में है। क़ुरआन कह रहा है कि उनसे तब तक जंग करो जब तक कि वह *जिज़्या* देने पर तैयार न हो जाएँ। इसका मतलब यह हुआ कि या तो इस्लाम ले आएँ या फिर *जिज़्या* दें। इस

बात में भी कोई शक नहीं है कि क़ुरआन का मानना है कि *अहले किताब* और *मुश्रिकों* –बुतों की पूजा करने वाले वह लोग जो किसी आसमानी किताब को नहीं मानते हैं– के बीच फ़र्क़ है। मुश्रिकों के बारे में क़ुरआन ने किसी आयत में नहीं कहा है कि उनसे तब तक जंग करते रहो जब तक कि वह *जिज़्या* देने पर तैयार न हो जाएँ और अगर देने पर तैयार हो जाएँ तो जंग रोक दो। यह फ़र्क़ है और क़ुरआन इस फ़र्क़ को पूरी तरह से मानता है।

अब सवाल यह है कि *जिज़्या* क्या चीज़ है? और *जिज़्ये* का फ़ाएद क्या है? क्या *जिज़्या* टैक्स को ही कहते हैं और अगर हाँ तो भला यह कैसा हुक्म है? क्या यह ज़ोर–ज़बरदस्ती नहीं है? क्या इसी को इन्साफ़ कहते हैं? क्या इस्लाम ने नहीं कहा है कि उनसे तब तक जंग करते रहो जब तक कि वह *जिज़्या* देने पर तैयार न हो जाएँ? यह कौन सा क़ानून है कि इस्लाम मुसलमानों को छूट दे रहा है या वाजिब कर रहा है कि *अहले किताब* से तब तक जंग करते रहो जब तक कि वह मुसलमान न हो जाएँ या टैक्स देने पर तैयार न हो जाएँ। इस मामले में तो दोनों तरफ़ से ही मुश्किल दिखाई पड़ रही है यानी उनसे जंग करो ताकि वह या तो मुसलमान हो जाएँ या टैक्स दें। या अपना धर्म उन पर थोप दो या ज़बरदस्ती उनसे टैक्स लो। दोनों ही हालतों में उनके साथ ज़बरदस्ती है यानी या अक़ीदे में ज़बरदस्ती है या टैक्स लेने में दबाव।

इस मामले पर हमें थोड़ा और गहराई में जाकर ध्यान देना होगा कि आख़िर इस्लाम *जिज़्या* किस चीज़ को कहता है? यह टैक्स है या कोई और चीज़ है?

इस पर हम आगे चलकर बात करेंगे।

(4) ''साग़ेरून'' के मायनी

इस आयत के आख़िर में हैः

وَ هُم صَاغِرُونَ

जब वह छोटे बन जाएँ

अरबी में ''सग़ीर'' छोटे को कहते हैं और ''साग़ेरून'' शब्द इसी फ़ैमिली रूट से है। ''जब वह छोटे बन जाएँ'' का क्या मतलब है?

असल में यह हमारा चौथा सवाल है।

क्या इसका यह मतलब यह है कि *अहले किताब* तुम्हारी ताक़त के सामने बस अपना सर झुका दें या इस्लाम इससे हटकर कुछ और भी चाहता है?

यहाँ इस आयत के मायनी और इससे जुड़े सवालों से हटकर कुछ दूसरी चीज़ें भी हैं जिन पर बात करना भी बहुत ज़रूरी है।

जिहाद का फ़ाएदा

इन में से एक इश्यु यह है कि इस्लाम ने जिहाद को वाजिब ही क्यों किया है?

कुछ लोगों का मानना यह है कि धर्म में सिरे से जिहाद और जंग का क़ानून होना ही नहीं चाहिए क्योंकि जंग बुरी चीज़ है। धर्म को तो ख़ुद जंग से जंग करना चाहिए, न कि वही जंग का हुक्म देने लगे।

साथ ही हम यह भी जानते हैं कि इस्लाम के फ़ुरूए दीन (Branches of Islam) में से एक जिहाद भी है। अगर कोई हम से पूछे कि फ़ुरूए दीन कितने हैं तो हम यही तो कहेंगे कि दस हैंः नमाज़, रोज़ा, हज, ख़ुम्स, जिहाद...।

ईसाईयों ने जिन बातों को लेकर इस्लाम की दुश्मनी में प्रोपेगण्डा किया है उनमें से एक जिहाद भी है।

जिहाद और अक़ीदे की आज़ादी
(Jihad & Freedom of Beliefs)

वह कहते हैं कि पहली बात तो यह है कि इस्लाम में ऐसा क़ानून है ही क्यों और दूसरी बात यह कि इसी क़ानून की वजह से मुसलमानों को इतनी छूट मिली हुई है कि उन्होंने दूसरों पर हमला बोल कर ज़बरदस्ती उनके ऊपर इस्लाम थोपा है।

इन लोगों का कहना है कि इस्लाम में जितनी भी जंगें हुई हैं वह सब की सब दूसरों पर अपनी आइडियॉलोजी थोपने के लिए हुई थीं। यह सारी जंगें इसी लिए थीं ताकि दूसरों को ज़बरदस्ती मुसलमान बना लिया जाए यानी इस्लाम ताक़त के बल पर ही फैला है। इन लोगों का यह भी कहना है कि जिहाद ह्युमेन राइट्स चार्टर के एक क्लॉज़ ''फ्रीडम ऑफ़ आइडियॉलोजी'' से सीधे तौर पर टकराता है।

मुश्रिक[1] और नॉन-मुश्रिक में फ़र्क़

जिहाद के क़ानून में इस्लाम मुश्रिक और नॉन-मुश्रिक को अलग-अलग मानता है और इन दोनों के बीच एक तरह का फ़र्क़ देखता है। नॉन-मुश्रिक के साथ एक तरह के मेल-मिलाप को तो इस्लाम जायज़ समझता है लेकिन मुश्रिकों के साथ जायज़ नहीं मानता।

---

[1] मुश्रिक उन लोगों को कहते हैं जो न इस्लाम को मानते हैं और न किसी दूसरे आसमानी धर्म को। यह लोग ख़ुदा को मानते तो हैं लेकिन ख़ुदा की ख़ुदाई में दूसरों को भी उसका भागीदार मानते हैं।

क्या अरब–नॉन अरब में भी फ़र्क़ है?

जिहाद के मामले में हमें यह भी देखना होगा कि क्या इस्लाम अरब व नॉन–अरब के बीच भी फ़र्क़ को मानता है? यानी क्या ऐसा है कि इस्लाम किसी एक जगह को अपना असली सेंटर मानता है जहाँ वह न मुश्रिक को देखना पसन्द करता है और न *अहले किताब* को और इस जगह का नाम अरब है। अगर अरब से हटकर कोई और जगह हो तो इस्लाम इतनी सख़्ती नहीं करता है जैसे मुश्रिकों और *अहले किताब* के साथ मेलजोल की छूट दे देता है। बहरहाल सवाल यह है कि क्या इस्लाम अरब व नॉन–अरब के बीच फ़र्क़ को मानता है या नहीं?

इस बात में तो कोई शक नहीं है कि मक्के और मक्के से हटकर दूसरी जगहों में बहरहाल फ़र्क़ है जैसा कि इस आयत में आया हैः

اِنَّمَا الْمُشرِكُونَ نَجَسٌ فَلَا يَقرَبُوا المَسجِدَ الحَرَامَ بَعدَ عَامِهِم هٰذَا[1]

> सारे मुश्रिक नजिस हैं इसलिए इस साल के बाद से मस्जिदुल हराम में न आने पाएँ।

मक्के और दूसरी जगहों में तो फ़र्क़ है लेकिन सवाल यह है कि क्या अरब और अरब से हटकर दूसरी जगहों में भी फ़र्क़ है या नहीं? अपनी जगह यह भी एक सवाल है।

मुश्रिकों के साथ एग्रीमेंट

मुश्रिकों के साथ एग्रीमेंट करना भी एक सवाल है। क्या इस्लाम उनके साथ एग्रीमेंट करने की छूट देता है और अगर एग्रीमेंट कर लिया तो क्या यह एग्रीमेंट किसी

---

[1] सूरए तौबा/28

काम का भी होगा या नहीं? क्या ऐसे किसी भी एग्रीमेंट को मानना ज़रूरी है या ज़रूरी नहीं है?

कैसी जंग?

एक बड़ा सवाल यह भी है कि अगर इस्लाम जंग को ख़ुदा का बनाया क़ानून समझता है तो फिर किस तरह की जंग को जायज़ समझता है और किस तरह की जंग को जायज़ नहीं समझता? यानी क्या खुले आम क़त्ल को जायज़ समझता है? क्या इस्लाम उन लोगों के क़त्ल को भी जायज़ समझता है जो हथियार ही नहीं उठाते जैसे बूढ़ी औरतें, बच्चे या अपने काम-काज में लगे आम लोग?

यह सब वह बातें हैं जिन पर हमें ध्यान देना होगा।

क़ुरआन में जिहाद के बारे में बहुत सी जगहों पर आयतें आई हैं। हम यहाँ जिहाद के बारे में क़ुरआन में उतरी सारी आयतें एक साथ रखेंगे और फिर देखेंगे कि क्या नतीजा निकलता है।

पहला सवालः जंग की शरई हैसियत

(Religious Status of War in Islam)

पहली बात इस्लाम में जिहाद की शरई हैसियत के बारे में है। यानी अगर धर्म के क़ानूनों में एक क़ानून जिहाद का भी हो तो क्या ऐसा क़ानून होना चाहिए या नहीं? जो लोग जंग को नहीं मानते वह कहते हैं कि नहीं होना चाहिए क्योंकि जंग बुरी चीज़ है और धर्म का तो काम ही बुराईयों को ख़त्म करना है। इसलिए धर्म और जंग एक साथ कैसे इकट्ठे हो सकते हैं? धर्म तो

अमन–शान्ति और प्यार–मोहब्बत का नाम है। जब धर्म जंग के ख़िलाफ़ है तो फिर धर्म में जंग का क़ानून भी नहीं होना चाहिए और किसी भी हालत में जंग नहीं होना चाहिए।

यह है ईसाईयों का प्रोपेगण्डा लेकिन इस बात में बिल्कुल भी जान नहीं है।

जंग या चढ़ाई

क्या जंग पूरी तरह से एक बुरी चीज़ है? अगर किसी का कोई हक़ (अधिकार) छिन जाए या किसी पर बेवजह हमला हो जाए तो क्या अपने बचाव में या अपना हक़ वापस लेने के लिए भी जंग नहीं करना चाहिए?

इस सवाल के लिए हमें यह देखना होगा कि लोग जंग करते ही क्यों हैं।

कभी ऐसा होता है कि जंग किसी इन्सान या किसी समाज पर किसी लालच की वजह से की जाती है जैसे सामने वाले की ज़मीन हथिया कर अपनी ज़मीन बढ़ाने के लिए, अपनी दौलत बढ़ाने के लिए, अपनी ताक़त बढ़ाने के लिए, अपने मुल्क का बार्डर फैलाने के लिए या फिर अगर कुछ भी न हो तो अपना दबदबा ही बढ़ाने के लिए। ऐसी किसी भी जंग में हमला करने वाले का दावा यह होता है कि उसकी जाति सब से अच्छी जाति है इसलिए बस उसी को दूसरे सब लोगों के ऊपर हुकूमत करने का हक़ है।

अगर जंग इस काम के लिए लड़ी जाए तो सिरे से ग़लत है। अगर जंग दूसरों की ज़मीनें हथियाने के लिए हो, दूसरों की दौलत पर डाका डालने के लिए हो, दूसरों को नीचा दिखाने के लिए हो या यह साबित करने के लिए हो कि हम सब से अच्छे हैं और दूसरे हम से कम

हैं इसलिए दूसरे सब लोगों के ऊपर बस हमें हुकूमत करना चाहिए तो ऐसी हर जंग को दूसरों पर चढ़ाई करना कहते हैं और ऐसी हर जंग बुरी है जिसमें शक भी नहीं करना चाहिए।

डिफ़ेंसिव जंग

लेकिन अगर जंग किसी हमले से बचने के लिए हो यानी किसी ने हमारी ज़मीन और हमारे माल-दौलत पर हमला बोल दिया हो या वह हमारी आज़ादी छीनकर हमें अपना ग़ुलाम बनाना चाहता हो तो यहाँ पर धर्म क्या कहता है? क्या धर्म को यह कहना चाहिए कि जंग हर हाल में बुरी चीज़ है, हथियार उठाना बहुत बुरा है, तलवार चलाना अच्छी बात नहीं है क्योंकि हम तो अमन-शान्ति के चाहने वाले हैं?

ज़ाहिर सी बात है कि ऐसी कोई भी बात बेवक़ूफ़ी भरी होगी। दुश्मन हम से जंग कर रहा है और हम हाथ पर हाथ धरे बैठे हुए हैं कि हम तो अमन-शान्ति वाले हैं। दुश्मन हमें लूटना चाहता है तो लूट ले, हम तो अपने डिफ़ेंस में जंग नहीं करेंगे। अगर कोई ऐसा सोचता है या करता है तो यह ग़लत है और यह कहीं से कहीं तक शान्ति नहीं है। यह तो सामने वाले के सामने अपना सर झुका देना है।

दूसरों के समाने अपना सर झुका देने का नाम शान्ति नहीं है

यहाँ पर हम यह नहीं कह सकते कि हम तो शान्ति के मानने वाले हैं इसलिए जंग के ख़िलाफ़ हैं। अगर कोई यह कहता है तो इसका मतलब यह है कि वह

नीचता व अपमान का पुजारी है और दूसरों के सामने अपना सर झुका देने में उसे कोई शर्म नहीं आती है। इसलिए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि शान्ति और दूसरों के सामने अपना सर झुका देने में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है।

शान्ति का मतलब होता है ''इज़्ज़त व शराफ़त के साथ मिलजुल कर जीना'' जबकि दूसरों के सामने अपना सर झुकाने का मतलब इज़्ज़त व शराफ़त के साथ मिलजुल कर जीना बिल्कुल नहीं होता बल्कि यह तो सरासर नीचता है बल्कि दोनों तरफ़ से नीचता है। एक तरफ़ से ज़ुल्म की वजह से और दूसरी तरफ़ से ज़ालिम के सामने सर झुका देने की वजह से।

इसलिए इस भ्रम को तो फ़ौरन अपने दिमाग़ से निकाल देना चाहिए। अगर कोई इस तरह सोचता हो कि मैं जंग के खिलाफ़ हूँ क्योंकि जंग बहुत बुरी चीज़ है और जंग भी वह जंग जो अपने डिफ़ेंस या ज़ुल्म के मुक़ाबले में हो तो ऐसा हर आदमी ग़लत सोचता है और उसकी सोच पूरी तरह से ग़लत है। किसी पर चढ़ाई कर देना या ज़ुल्म करना बेशक बुरी चीज़ है लेकिन ज़ुल्म का डटकर मुक़ाबला करना और ज़ालिम से जंग करना बहुत अच्छी बात है जो कि समाज के अटूट क़ानूनों में से है।

क़ुरआन ने भी इस बारे में बात की है और बहुत ही खुलकर अपना हुक्म सुनाया हैः

لَولا دَفعُ اللهِ النَاسَ بَعضَهُم بِبَعضٍ لَفَسَدَتِ الارضُ[1]

> अगर इसी तरह अल्लाह कुछ को कुछ के हाथों न रोकता तो सारी ज़मीन पर मुसीबत आ जाती।

एक दूसरी आयत में अल्लाह फ़रमाता हैः

---

[1] सूरए बक़रा/251

لَهُدِّمَت صَوَامِعُ وَ بِيَعٌ وَ صَلَوَاتٌ و مَساجِدُ يُذكَرُ فِيهَا اسمُ اللهِ كَثِيراً[1]

सारे चर्च, यहूदियों की इबादत करने की जगहें, मजूसियों की इबादत करने की जगहें और मस्जिदें जिन में ख़ूब अल्लाह की याद होती है, सब की सब ढा दी जातीं।

अगर अल्लाह कुछ इन्सानों के हाथों दूसरे कुछ इन्सानों का रास्ता न रोके तो सारी दुनिया बर्बाद हो जाए।

इसलिए दुनिया की हर हुकूमत अपने मुल्क की सेक्योरिटी व डिफ़ेंस के लिए अपनी ताक़त बढ़ाना अपना सब से बड़ा काम समझती हैं। एक मुल्क के पास दूसरे मुल्क पर चढ़ाई करने के लिए फ़ौज है और दूसरे मुल्क के पास अपना डिफ़ेंस करने के लिए। अब यह न कहिएगा कि वह मुल्क जिसके पास फ़ौज है वह इसलिए चढ़ाई नहीं करता क्योंकि वह कमज़ोर है। अगर उसके पास भी ताक़त होती तो वह भी हमला कर देता। हमें इस बात से कोई मतलब नहीं है लेकिन हर मुल्क की सब से बड़ी ज़रूरत उसकी फ़ौज होती है ताकि वह अपना डिफ़ेंस कर सके। उस मुल्क के पास इतनी ताक़त ज़रूर होना चाहिए कि अगर कोई दूसरा मुल्क उस पर हमला कर दे तो वह अपना डिफ़ेंस कर सके।

इस बारे में क़ुरआन में ख़ुदा फ़रमाता हैः

وَاَعِدُّوا لَهُم مَا ستَطَعتُم مِن قُوَّةٍ وَّ مِن رِّباطِ الخَيلِ تُرهِبُونَ بِهِ عَدُوَّ اللهِ وَ عَدُوَّكُم وَ آخَرِينَ مِن دُونِهِم لَا تَعلَمُونَهُم ۚ اللهُ يَعلَمُهُم[2]

तुम सब उन से मुक़ाबले के लिए जितना हो सके अपनी ताक़त और बंधे हुए घोड़ों की सफ़ों (लाइनों) का बन्दोबस्त करो जिससे अल्लाह के दुश्मन, अपने दुश्मन और जिनको

---

[1] सूरए हज/40

[2] सूरए अन्फ़ाल/60

तुम नहीं जानते हो लकिन अल्लाह जानता है, उन सब को डरा दो।

जितना भी हो सके अपनी ताक़त बढ़ाते जाओ और अपने मुल्क के बार्डर को अपने कन्ट्रोल में रखो। आयत में ''बंधे हुए घोड़ों का बन्दोबस्त करो'' कहा गया है। ऐसा इसलिए कहा गया है क्योंकि पहले घोड़े ही ताक़त की पहचान हुआ करते थे। वैसे हर दौर में ताक़त के हथियार बदलते रहते हैं। क़ुरआन का कहना है कि इस काम के लिए ताक़त बढ़ाओ और ताक़तवर बनो ताकि दुश्मन के दिल में तुम्हारा डर बैठ जाए और वह तुम्हारे बार्डर की तरफ़ आँख उठाकर भी न देख सके।

इस्लाम और ईसाई धर्म में फ़र्क़

कहते हैं कि ईसाई धर्म को इस बात पर गर्व है कि ईसाई धर्म में कहीं से कहीं तक कोई जंग नहीं दिखाई पड़ती लेकिन हम कहते हैं कि इस्लाम को इस बात पर गर्व है कि इस धर्म के पास जिहाद जैसा क़ानून मौजूद है जो कि ईसाई धर्म में नहीं है क्योंकि इस धर्म में कुछ भी नहीं है। जब ईसाई धर्म में ईसाई समाज की कोई थ्योरी है ही नहीं और जब उनका कोई सोशल सिस्टम ही नहीं है तो जिहाद का क़ानून भी नहीं है। ईसाई धर्म में दो-चार अख़लाक़ी उसूलों (Morals) से हटकर कुछ है ही नहीं। सच बोलो, झूठ न बोलो, दूसरों का माल मत खाओ जैसी कुछ बातें हैं बस और ज़ाहिर सी बात है कि इस तरह की बातों के लिए जिहाद की कोई ज़रूरत ही नहीं बचती।

जबकि इस्लाम एक ऐसा धर्म है जो कहता है कि मेरी और मेरे मानने वालों की ज़िम्मेदारी यह है कि एक इस्लामी समाज बनाया जाए। इस्लाम तो एक इस्लामी समाज बनाने के लिए आया था, अपना मुल्क तैयार

करने और अपनी हुकूमत बनाने के लिए आया था। इस्लाम सारी दुनिया को रास्ता दिखाने के लिए आया था। अगर कोई धर्म एक पूरा सोशल सिस्टम बनाने के लिए आया हो तो फिर कैसे हो सकता है कि उसमें जिहाद का क़ानून न हो। अगर ऐसे धर्म के पास हुकूमत होगी तो हो ही नहीं सकता कि उस हुकूमत के पास फ़ौज न हो।

ईसाई धर्म का दाएरा (सर्किल) बहुत छोटा है, जबकि इस्लाम का दाएरा बहुत बड़ा है। ईसाई धर्म दो-चार अच्छी-अच्छी नसीहतों से आगे बढ़ता ही नहीं है लेकिन इस्लाम इन्सान की ज़िन्दगी के हर मैदान पर अपनी पैनी नज़र रखता है, इस्लाम के पास अपना एक सोशल सिस्टम है, फ़ाइनेंशल सिस्टम है और पॉलिटिकल सिस्टम है। इस्लाम हुकूमत बनाने और हुकूमत करने के लिए आया है। जब ऐसा है तो फिर कैसे हो सकता है कि उसकी अपनी फ़ौज न हो? कैसे हो सकता है कि इस्लाम में जिहाद का क़ानून न हो?

इस्लाम और शान्ति

इसलिए उन लोगों का यह मानना बिल्कुल ग़लत है जो कहते हैं कि धर्म में जंग की कोई जगह नहीं होना चाहिए क्योंकि जंग हर तरह से एक बुरी चीज़ है, धर्म को तो बस अमन-शान्ति की बात करना चाहिए।

मगर उधर से यह बात भी सही है कि धर्म को अमन-शान्ति की बात भी करना चाहिए और क़ुरआन भी इस बात को मानता है कि शान्ति अच्छी चीज़ है।[1]

लेकिन शान्ति के साथ-साथ धर्म को जंग की बात भी करना पड़ेगी यानी जब सामने वाला इज़्ज़त व शराफ़त

---

[1] सूरए निसा/128

के साथ रहना ही न चाहता हो, ज़ालिम हो और मानवता का जनाज़ा निकालना चाहता हो और हम उसके सामने अपना सर झुका दें यानी हार मान लें तो यह काम नीचता को अपनाने जैसा होगा। अगर हम ऐसा करेंगे तो एक दूसरे रूप में अपने आप को ख़ुद अपने ही हाथों से नीचा बना लेंगे। इस्लाम का मानना है कि शान्ति बस तब होना चाहिए जब सामने वाला भी हालात को ठीक करना चाहता हो और मिलजुल कर रहना चाहता हो। इसी तरह जंग भी बस तब होना चाहिए जब ख़ुद सामने वाला ही जंग करने पर तैयार हो।

जंग की शर्तें

दूसरी बात यह है कि इस्लाम किन हालात और किन शर्तों में जंग करने के लिए कहता है?

जिहाद के बारे में क़ुरआन में उतरने वाली सबसे पहली आयतें सूरए हज की आयत/38–41 हैं:

اِنَّ اللّٰہَ يُدَافِعُ عَنِ الَّذِينَ آمَنُوا اِنَّ اللّٰہَ لا يُحِبُّ كلَّ خَوَّانٍ كَفُورٍ اُذِنَ لِلَّذِينَ
يُقَاتَلُونَ بِاَنَّهُم ظُلِمُوا وَ اِنَّ اللّٰہَ علَى نَصرِهِم لَقَدِيرُ الَّذِينَ اُخرِجُوا مِن دِيارِهِم بِغَيرِ
حَقٍّ اِلَّا اَن يَقُولُوا رَبُّنَا اللّٰہُ وَ لَو لَا دَفعُ اللّٰہِ النَّاسَ بَعضَهُم بِبَعضٍ لَّهُدِّمَت
صَوَامِعُ وَ بِيَعٌ وَّ صَلَواتٌ وَّ مَسَاجِدُ يُذكَرُ فِيهَا اسمُ اللّٰہِ كَثِيراً وَ لَيَنصُرَنَّ اللّٰہُ
مَن يَنصُرُهُ اِنَّ اللّٰہَ لَقَوِیٌّ عَزِيزٌ الَّذِينَ اِن مَّكَّنَاهُم فی الاَرضِ اَقامُوا الصَّلوٰةَ وَ
آتُوا الزَّكٰوةَ وَ اَمَرُوابِالمَعروفِ وَ نَهَوا عَنِ المُنكَرِ وَ لِلّٰہِ عَا قِبَۃُ الاُمُورِ

बेशक अल्लाह ईमान वालों का बचाव करता है और अल्लाह ख़यानत करने वाले (धोखेबाज़) काफ़िरों को बिल्कुल पसन्द नहीं करता है। जिन लोगों से बराबर जंग की जा रही है उन्हें उनके नुक़सान व मुसीबतों की वजह से जिहाद की छूट दे दी गई है और बेशक अल्लाह उनकी मदद करने की ताक़त रखता है। यह वह लोग हैं जो अपने घरों से बेवजह निकाल

> दिए गए हैं। यह लोग बस यह कहते हैं कि हमारा पालने वाला अल्लाह है और अगर अल्लाह कुछ लोगों को कुछ दूसरे लोगों के हाथों न रोकता तो सारे चर्च, यहूदियों की सारी इबादतगाहें, मजूसियों की सारी इबादतगाहें और मस्जिदें जिनमें ख़ूब अल्लाह की याद होती है, सब ढा दी जातीं। अल्लाह अपने मददगारों की मदद ज़रूर करेगा क्योंकि वह ताक़त वाला भी है और इज़्ज़त वाला भी है। यह वह लोग हैं जिन्हें हम ने ज़मीन में कन्ट्रोल दिया तो इन्होंने नमाज़ क़ायम की, ज़कात दी, अच्छाईयों का हुक्म दिया और बुराईयों से रोका और यह तय बात है कि सारे काम अल्लाह के ही कन्ट्रोल में हैं।

कितनी अजीब आयतें हैं! क़ुरआन के अन्दर जिहाद के बारे में आने वाली यह सब से पहली आयतें हैं।

मक्के के मुसलमान

रसूले इस्लाम[स०] पर पहली बार 'वही' (Revelation) 40 साल की उम्र में मक्के में उतरी थी जिसके बाद आप 13 साल तक मक्के ही में रहे। इन 13 सालों में अल्लाह के रसूल के साथ-साथ उनके साथियों ने भी बहुत बड़ी-बड़ी मुसीबतें झेली थीं। मुसलमानों पर दबाव इतना बढ़ गया था कि कुछ मुसलमान रसूले इस्लाम[स०] की मर्ज़ी से मक्के से 'हब्शा' चले गए थे।

मुसलमानों ने बार-बार रसूले इस्लाम[स०] से अपने डिफ़ेंस में जंग करने की छूट माँगी थी लेकिन जब तक रसूले इस्लाम[स०] मक्के में रहे यानी 13 साल तक जंग की छूट नहीं दी। इसके पीछे भी एक बहुत बड़ी स्ट्रेटजी थी।

अब हालात बहुत ख़राब हो गए थे मगर साथ ही साथ इस्लाम भी दूसरे शहरों तक फैल गया था जैसे मदीने में भी कुछ लोग मुसलमान हो गए थे। यह लोग मदीने से मक्के आए थे और आकर रसूले इस्लाम[स०] के हाथ पर बैअत भी की थी। साथ ही यह वादा भी किया था कि अगर आप मदीने आ जाएँ तो हम सब आपका साथ भी देंगे।

जिसके बाद रसूले इस्लाम[स०] की हिजरत (Migration) का वक़्त आ जाता है। रसूले इस्लाम[स०] मक्के से मदीने आ जाते हैं और फिर धीरे-धीरे दूसरे सारे मुसलमान भी मक्के से मदीने चले आते हैं। इसके बाद पहली बार मदीना शहर इस्लाम का अपना एक मज़बूत सेंटर बनकर उभरता है।

मदीने आने के बाद भी एक साल तक रसूले इस्लाम[स०] ने जंग की छूट नहीं दी थी। हिजरत का दूसरा साल यानी मदीने आने के बाद दूसरा साल था कि जब जिहाद की यही ऊपर वाली आयतें नाज़िल हुई थीं।

इन आयतों का अन्दाज़ देखिए!

इन आयतों की शुरूआत ऐसे होती हैः

اِنَّ اللّٰہَ یُدافِعُ عَنِ الذینَ آمَنوا

> ख़ुदा मोमिनों का दिफ़ा (Defence) करता है।

ख़ुदा ख़यानत करने और धोखा देने वालों को बिल्कुल पसन्द नहीं करता है। यह इस बात की तरफ़ इशारा है कि इन लोगों ने तुम्हारे साथ धोखा किया है।

उसके बाद अल्लाह फ़रमाता हैः

اُذِنَ لِلَّذِینَ یُقَاتَلُونَ بِاَنَّھُم ظُلِمُوا

> जिन लोगों पर ज़ुल्म हुआ है उन्हें जिहाद की इजाज़त दे दी गई है।

ऐ मुसलमानो! अब जबकि यह लोग तुम से जंग करने के लिए आ ही गए हैं तो अब तुम भी निकल पड़ो और इन से जंग करो।

यह जंग अटैकिंग–वॉर नहीं है बल्कि यह पूरी तरह से अपने बचाव में की जाने वाली डिफ़ेंसिव–वॉर है।

जंग करने की यह इजाज़त क्यों दी गई?

क्योंकि जिस पर ज़ुल्म हुआ है उसे अपना बचाव व डिफ़ेंस करना ही चाहिए।

इसके बाद अल्लाह ने मदद का वादा भी किया हैः

اِنَّ اللّٰہَ علَى نَصرِهِم لَقَدِير الَّذِينَ اُخرِجوا مِن دِيارِهِم بِغَيرِ حَقٍّ الَّا اَن يَقولوا رَبُّنا اللّٰہُ

हम उन लोगों को जिहाद की छूट देते हैं जिन्हें उनके शहरों से बिना किसी ग़लती के निकाल दिया गया है। इन लोगों की ग़लती बस इतनी सी थी कि यह लोग कहते थे कि हमारा पालने वाला अल्लाह है यानी हमारा रब अल्लाह है। इसलिए हम इन लोगों को जंग की छूट दे रहे हैं।

आयत का अन्दाज़ देखिए कितना डिफ़ेंसिव है! इसके बाद यही आयत जिहाद का फ़ाएदा भी बता रही है। सच्चाईयों को बताने में क़ुरआन का अन्दाज़ कितना अजीब है।

इतना कहने के बाद क़ुरआन ईसाईयों के सवालों का जवाब भी दे रहा है क्योंकि ईसाई कहते हैं कि ऐ क़ुरआन! तू तो आसमानी किताब और एक धार्मिक किताब है, फिर तू क्यों जंग की बात कर रहा है? जंग तो बहुत बुरी चीज़ है। तुझे तो बस शान्ति की बात करना चाहिए। तुझे तो बस अच्छाईयों और इबादत की बात करना चाहिए।

क़ुरआन जवाब में कहता है कि नहीं। ऐसा सोचना ग़लत है क्योंकि अगर दुश्मन की तरफ़ से हमला हो जाए और हमारी तरफ़ से जवाब न दिया जाए यानी अगर ईंट का जवाब पत्थर से न दिया जाए तो सब कुछ ख़त्म हो जाएगा और इबादत करने के लिए एक भी जगह नहीं बचेगीः

لَو لا دَفعُ اللہِ النَّاسَ بَعضَهُم بِبَعضٍ لَهُدِّمَت صَوامِعُ وَ بِيَعٌ وَ صَلَواتٌ و مَساجِدُ يُذكَرُ فِيها اسمُ اللہِ

अगर अल्लाह कुछ लोगों को कुछ दूसरे लोगों के हाथों न रोकता तो सारे चर्च, यहूदियों की इबादत करने की सारी जगहें, मजूसियों की इबादत करने की सारी जगहें और मस्जिदें सब ढा दी जातीं जिनमें अल्लाह को ख़ूब याद किया जाता है।

अगर ख़ुदा कुछ लोगों के हाथों दूसरे कुछ लोगों के ज़ुल्म व अत्याचार को न रोके तो सारे चर्च और सारी इबादतगाहें, सब कुछ ख़त्म हो जाएं। यहूदियों की इबादत के सेंटर बर्बाद हो जाएँ, सूफ़ियों के सेंटर बन्द हो जाएँ, मुसलमानों की मस्जिदें ढा दी जाएं यानी सामने वाला हमला कर देगा और किसी को भी अल्लाह की इबादत करने की छूट नहीं होगी।

इसके बाद क़ुरआन मदद का वादा भी करता हैः

وَ لَيَنصُرَنَّ اللہُ مَن يَنصُرُه اِنَّ اللہَ لَقَوِىٌّ عَزِيزٌ

जो भी ख़ुदा की मदद करेगा यानी सच्चाई की मदद करेगा, ख़ुदा भी उसकी मदद करेगा क्योंकि ख़ुदा बड़ी ताक़त वाला और हर चीज़ पर कन्ट्रोल रखने वाला है।

ज़रा देखिए! ख़ुदा उन लोगों की किस तरह से तारीफ़ कर रहा है जो उसकी मदद करते हैं। बेशक ख़ुदा उन लोगों की मदद करता है जो अपना डिफ़ेंस ख़ुद अपने हाथों से करना जानते हैं।

यह लोग जब हुकूमत बनाते हैं तो यह ऐसे होते हैंः

اَلَّذِينَ اِن مَكَّنَّاهُم فِى الارضِ

जब हम कुछ लोगों को ज़मीन पर जगह देते हैं, उनकी हुकूमत बनाते हैं और उन्हें ताक़त देकर मज़बूत बना देते हैं तो वह इस रूप में ढल जाते हैं। कैसा रूप ?

اَقَامُوا الصَّلاۃَ

अल्लाह की इबादत करते हैं।

وَ آتَوُا الزَّكَاةَ

ज़कात देते हैं।

नमाज़ यहाँ पर ख़ुदा से इन्सान के सही रिश्ते की तरफ़ और ज़कात इन्सानों के एक-दूसरे की मदद करने की तरफ़ इशारा है।

यह लोग ख़ुदा की सच्ची इबादत करते हैं और एक-दूसरे की मदद भी करते हैं। साथ ही साथ यह लोग यह काम भी करते हैंः

وَ اَمَرُوابِالْمَعْرُوفِ وَ نَهَوا عَنِ الْمُنكَرِ

दूसरों को अच्छाईयों की तरफ़ बुलाते हैं और बुराईयों से रोकते हैं।

وَ لِلّٰهِ عَا قِبَۃُ الامورِ

और हर काम का अन्जाम ख़ुदा के ही हाथ में है।

यहाँ तक आने के बाद यह बात हमारी समझ में अच्छी तरह से आ जाती है कि क़ुरआन ने जिहाद का हुक्म दिया तो है लेकिन सामने वाले पर हमला करने के लिए नहीं बल्कि यह हुक्म अपना बचाव और डिफ़ेंस करने के लिए दिया गया है।

वैसे हम इस पर भी बात करेंगे कि जिन हमलों का हमें मुक़ाबला करना है वह हमेशा इस रूप में नहीं होते हैं कि सामने वाला आपकी ज़मीन पर हमला बोल दे बल्कि यह भी हो सकता है कि सामने वाला अपनी ही ज़मीन के अन्दर किसी कमज़ोर क़ौम या समाज -क़ुरआन की ज़बान में 'मुस्तज़अफ़ीन'- पर ज़ुल्म व अत्याचार कर रहा हो। अगर ऐसा हो तो तब भी हम अपने घर में चुप होकर नहीं बैठ सकते। हमारी ज़िम्मेदारी है कि जिन लोगों पर ज़ुल्म हो रहा है उन्हें उस ज़ुल्म से आज़ाद कराएं। इसके अलावा यह भी हो

सकता है कि सामने वाला किसी जगह पर ऐसे हालात बना दे कि वहाँ रहने वाले लोगों तक हक़ बात पहुँच ही न पा रही हो। उसने एक ऐसी दीवार खड़ी कर दी हो जिसकी वजह से धर्म का मैसेज उन लोगों तक जा ही न पा रहा हो, अगर ऐसा हो तो हमें ऐसी हर दीवार ढा देना चाहिए क्योंकि यह भी एक तरह का हमला और एक तरह का ज़ुल्म ही है।

लोगों को हर तरह की पाबन्दियों से आज़ाद कराना ज़रूरी है चाहे यह पाबन्दियाँ सोच पर लगी हों या किसी और तरह की हों। ऐसी किसी भी हालत में जिहाद का दरवाज़ा अपने आप खुल जाता है। ऐसा हर जिहाद, ज़ुल्म के मुक़ाबले में डट जाना और अपना डिफ़ेंस करना है। अगर हम डिफ़ेंस को आम मायनी में लें तो डिफ़ेंस यानी ज़ुल्म के मुक़ाबले में जंग।

बहरहाल ज़ुल्म और हमले भी तरह-तरह के होते है जिनसे मुक़ाबला करना इस्लाम की नज़र में बहुत ज़रूरी है। हम इस पर भी बात करेंगे।

(2)

قاتِلُوا الَّذِين لا يُومِنُونَ باللهِ وَلا باليَومِ الآخِر وَلا يُحَرِّمُونَ ما حَرَّمَ اللهُ وَرَسُولُہ
و لا يَدينُون دِينَ الحقِّ مِنَ الَّذِين اُوتُوالكِتابَ حتّٰى يُعطُوا الجِزيَۃ عَن يَدٍوهُم
صاغِرُونَ[1]

उन लोगों से जिहाद करो जो अल्लाह और क़यामत पर ईमान नहीं रखते और जिस चीज़ को अल्लाह और उसके रसूल ने हराम बताया है उसे हराम नहीं समझते और *अहले किताब* होते हुए भी दीने हक़ (अल्लाह के भेजे हुए धर्म) पर नहीं चलते... यहाँ तक कि तुम्हारे

---

[1] सूरए तौबा/29

सामने अपना सर झुका दें और अपने हाथों से जिज़्या[1] देने पर तैयार हो जाएँ।

इस्लाम पर ईसाईयों के उठाए सवाल

जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं कि ईसाईयों ने इस्लाम के जिन क़ानूनों पर जो सवाल उठाए हैं उनमें से एक इस्लामी जिहाद का क़ानून भी है। उनका कहना है कि इस्लाम जंगों का धर्म है, न कि अमन-शान्ति का और इसके उलट ईसाई धर्म शान्ति का धर्म है। उनका यह भी कहना है कि जंग पूरी तरह से एक ग़लत चीज़ है और शान्ति अच्छी चीज़ है। इसलिए अगर कोई धर्म अल्लाह की तरफ़ से इन्सानों के लिए भेजा गया है तो उसे बस शान्ति की बात करना चाहिए क्योंकि अमन-शान्ति अच्छी चीज़ है। अल्लाह के भेजे धर्म को तो जंग का नाम भी नहीं लेना चाहिए क्योंकि जंग बुरी चीज़ है।

अख़लाक़ (Morals) -ईसाई धर्म के अपने ख़ास अख़लाक़- को सामने रखकर देखें तो यह वह धर्म है जो कहता है कि अगर कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर तमाँचा मार दे तो तुम अपना उल्टा गाल भी उसके सामने कर दो यानी इन्सान को कमज़ोर बनाने वाला अख़लाक़।

लेकिन आज के ईसाई धर्म ने अपनी थ्योरी बदल दी है। आज जब ईसाई बात करते हैं तो कहते हैं कि ह्युमेन राइट्स, सोशल राइट्स, आज़ादी, फ़्रीडम ऑफ़ आइडियॉलोजी, फ़्रीडम ऑफ़ थिंकिंग, धर्म को चुनने की आज़ादी, कुछ करने की आज़ादी जैसी सारी आज़ादियों को जंग छीन लेती है।

---

[1] जिज़्ये पर हम आगे चलकर बात करेंगे

हम दोनों हिसाब से बात करेंगे यानी अख़लाक़ (Morals) के हिसाब से भी बात करेंगे और ह्युमेन राइट्स के हिसाब से भी।

वैसे हम अभी ऊपर इसका जवाब दे चुके हैं जो बड़ा आसान सा जवाब था जिसमें साबित किया गया था कि उनका यह कहना बिल्कुल ग़लत है।

ज़ुल्म व ज़बरदस्ती बुरी चीज़ है, न कि जंग और हर जंग ज़ुल्म व ज़बरदस्ती भी नहीं होती

हम ने माना कि शान्ति अच्छी चीज़ है और इसमें कोई शक भी नहीं है। इस बात में भी कोई शक नहीं है कि उन लोगों या उस समाज से भी जंग करना बुरी बात है जो हमला करने वालों से कोई सरोकार ही नहीं रखते। ऐसे लोगों या ऐसे समाज की ज़मीनों को लूटने के लिए, उनका माल–दौलत हथियाने के लिए, उन्हें अपना ग़ुलाम बनाने के लिए और उन्हें अपने कन्ट्रोल में लेने के लिए लड़ी जाने वाली हर जंग ग़लत है जिसे हम भी बुरा कहते हैं।

असल में ख़ुद जंग कोई बुरी चीज़ नहीं है बल्कि बुरी चीज़ दूसरों पर चढ़ाई कर देना या ज़ुल्म करना है लेकिन यह भी ध्यान रहे कि किसी की भी तरफ़ से होने वाली हर जंग ज़ुल्म नहीं होती। एक बार हो सकता है कि सच में कोई जंग ज़ुल्म हो और यह भी हो सकता है कि लड़ी जाने वली जंग ज़ुल्म के जवाब में अपना डिफ़ेंस हो क्योंकि कभी–कभी ज़बरदस्ती और दादागीरी का जवाब ताक़त और हथियारों के बल पर भी देना पड़ता है यानी कभी ऐसा भी होता है कि ज़ुल्म को ताक़त के बल पर ही दूर भगाया जा सकता है।

शान्ति अच्छी चीज़ है, न कि दूसरों के सामने अपना सर झुका देना

अगर कोई धर्म यह दावा करता हो कि मेरे अन्दर कोई कमी नहीं है तो ऐसे धर्म को उन हालात के लिए भी पहले से एक सिस्टम बनाकर रखना होगा कि अगर हमला हो जाए तो क्या किया जाए या ख़ुद अपने ऊपर तो हमला न हो लेकिन कहीं और किसी दूसरे कमज़ोर समाज पर हमला हो जाए तो क्या किया जाए।

यही वह हालात हैं जहाँ जंग व जिहाद का दरवाज़ा अपने आप खुल जाता है। जब जंग होगी तो उसके लिए क़ानून का होना भी ज़रूरी है।

ईसाईयों का कहना है कि शान्ति अच्छी चीज़ है, हम भी कहते हैं कि शान्ति अच्छी चीज़ है। अब ज़रा यह बताइए कि दूसरों के सामने सर झुका देना कैसा है, दूसरों का ग़ुलाम बन जाना कैसा है और नीचता या अपमान को सह लेना कैसा है?

अगर दो बराबर की ताक़तें एक साथ मिलजुल कर शान्ति के साथ रहना चाहें, न यह उस पर चढ़ाई करे और न वह इस पर हमला करे बल्कि एक-दूसरे की इज़्ज़त करते हुए प्यार-मोहब्बत से रहना चाहें तो इसी को तो शान्ति कहते हैं जो कि बहुत अच्छी चीज़ है और ऐसा होना भी चाहिए।

इसके उलट कई बार ऐसा भी होता है कि सामने वाला ज़ुल्म व अत्याचार कर रहा है और जिस पर ज़ुल्म हो रहा है वह यह सोच कर चुप बैठा हुआ है कि जंग तो बुरी चीज़ है यानी वह सामने वाले की ताक़त व ज़ुल्म के आगे अपना सर झुका देता है। अगर ऐसा हो तो क्या इसे भी शान्ति कहा जाएगा। यह तो कहीं से कहीं तक शान्ति नहीं है। यह तो बिल्कुल ऐसे है जैसे आप किसी जंगल से जा रहे हैं कि अचानक रास्ते में आपको कोई चोर-उचक्का मिल जाए और आपसे कहे

कि फ़ौरन अपनी गाड़ी से उतर जाओ। हाथ ऊपर कर लो, जो कुछ तुम्हारे पास है वह मुझे दे दो और चुपचाप अपनी हार मान कर एक तरफ़ बैठ जाओ। आप भी कहें कि हाँ! बिल्कुल मैं तो अमन-शान्ति का मानने वाला हूँ और जंग मुझे क़तई पसन्द नहीं है क्योंकि जंग बहुत बुरी चीज़ है। तुम जैसा कहोगे मैं वैसा ही करूँगा। यह लो मेरा पैसा, मेरा सामान और जो कुछ भी मेरे पास है वह सब ले लो। गाड़ी भी ले जाओ। सब कुछ ले लो क्योंकि मुझे अमन-शान्ति बहुत पसन्द है।

यह कहीं से कहीं तक भी अमन-शान्ति से मोहब्बत नहीं है बल्कि यह खुले तौर पर नीचता और अपमान को सह लेना है। यह तो वह जगह है जहाँ इन्सान को अपनी इज़्ज़त और अपना माल बचाने के लिए अपना सब कुछ दाँव पर लगा देना चाहिए लेकिन अगर अपना माल-दौलत बचाने के चक्कर में इन्सान का ख़ून भी बह जाए और उसे पता हो कि कुछ हाथ भी नहीं आएगा तो फिर बात ही दूसरी है।

वैसे यह भी हो सकता है कि एक इन्सान का ख़ून बह जाए और जिस वक़्त ख़ून बहे उस वक़्त उसका कोई असर सामने न आए लेकिन बाद में यही ख़ून जोश मारने लगे और तब इसका असर दिखाई पड़े लेकिन अगर चोर के हाथों ख़ून भी बह जाए और कोई फ़ाएदा भी न हो तो फिर चोर के सामने डट जाने का कोई फ़ाएदा नहीं है बल्कि माल-दौलत जो भी हो देकर अपनी जान बचा लेना चाहिए।

इसलिए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अमन-शान्ति का साथ देने और नीचता व अपमान को सह लेने में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है। बस इसीलिए इस्लाम अपमान व नीचता को बर्दाश्त करने की छूट बिल्कुल नहीं देता है मगर उधर से पूरी तरह से अमन-शान्ति का झंडा भी उठाए हुए है।

यह बात हम ने इसलिए छेड़ी थी क्योंकि हम यह बताना चाहते थे कि ईसाई और ईसाईयों से हटकर दूसरे लोग भी इस्लाम के जिहाद वाले क़ानून को इस्लाम की कमज़ोरी बताते हैं और इस्लाम को बुरा-भला कहते फिरते हैं। फिर यह भी कहते हैं कि मुसलमानों के रसूल का मैथेड भी यही था। उनका कहना है कि इस्लाम जंगों से फैला है। इस्लाम तलवार का धर्म है, तभी तो मुसलमान दूसरे लोगों के सरों पर तलवार लिए खड़े रहते थे और कहते फिरते थे कि या तो मुसलमान हो जाओ या मरने के लिए तैयार हो जाओ। लोग भी क्या करते, मरने से बचने के लिए इस्लाम ले आते थे और मुसलमान हो जाते थे। मगर यह सारी बातें सिरे से ग़लत हैं।

जिहाद के बारे में *अन्कंडीश्नल* आयतें

हम पहले भी कह चुके हैं कि काफ़िरों के बारे में क़ुरआन की कुछ आयतें *अन्कंडीश्नल* हैं यानी क़ुरआन बस इतना ही हुक्म देता हैः

> रसूल! काफ़िरों और मुनाफ़िक़ों (Hypocrites) से जंग कीजिए।

या जैसे हम ने इस से पहले भी आयतें पढ़ी थीं जहाँ अल्लाह मुश्रिकों को (चार महीने की छूट) देने के बाद फ़रमाता है कि जब यह चार महीने बीत जाएँ और मुश्रिक न इस्लाम लाएं और न यह जगह छोड़कर कहीं और जाएँ तो जहाँ भी उन्हें पाना क़त्ल कर देना।

अब यह हुक्म मक्के या उसके आसपास की जगहों के लिए था या ख़ान-ए-काबा के लिए था, इस पर हम बाद में बात करेंगे।

इसी तरह यह आयत भी हैः

قَاتِلُوا الَّذِينَ لا يُومِنُونَ بِاللهِ وَلَا بِالیَومِ الآخِرِ وَلا يُحَرِّمُونَ مَا حَرَّمَ اللهُ وَرَسُولُہ وَ لَا يَدِينُونَ دِينَ الحقِ مِنَ الَّذِينَ أُوتُوالكِتَابَ حتّٰى يُعطُوا الجِزيَةَ عَن يَدٍوَّهُم صَاغِرُونَ[1]

उन लोगों से जिहाद करो जो अल्लाह और क़यामत पर ईमान नहीं रखते और जिस चीज़ को अल्लाह और उसके रसूल ने हराम बताया है उसे हराम नहीं समझते और *अहले किताब* होते हुए भी दीने हक़ (अल्लाह का भेजा हुआ धर्म) पर नहीं चलते... यहाँ तक कि तुम्हारे सामने अपना सर झुका दें और अपने हाथों से जिज़्या[2] देने पर तैयार हो जाएँ।

यह आयत *अहले किताब* के बारे में है।

इसी तरह यह आयत भी हैः

يَآ اَيُّهَا النَّبِیُّ جَاهِدِ الكُفَّارَ وَالمُنَافِقِينَ وَاغلُظ عَلَيهِم[3]

ऐ रसूल! काफ़िरों व मुनाफ़िक़ों से जंग कीजिए और उन पर सख़्ती कीजिए।

अब अगर हमारे सामने क़ुरआन की बस यही आयतें होतीं तो हम कह देते कि क़ुरआन का खुला हुक्म है कि हर हाल में काफ़िरों और मुनाफ़िक़ों से जंग करो, उनसे किसी भी हाल में सुलोह या सतझौता मत करो बल्कि जितना हो सके जंग करो। उनके साथ मिल-बैठने का तो सवाल ही नहीं उठता।

अगर हम इस तरह से सोचते हैं तो फिर हमें यह भी मानना होगा कि क़ुरआन बिना किसी शर्त के काफ़िरों से जंग करने का हुक्म देता है।

---

[1] सूरए तौबा/29

[2] जिज़्ये पर हम आगे चलकर बात करेंगे

[3] सूरए तौबा/73

कंडीशनल–अन्कंडीशनल फ़ार्मूला
(Conditional–Unconditional Formula)

हम पहले भी बता चुके हैं कि आम बोलचाल में लोग एक फ़ार्मूला यह भी काम में लाते हैं कि अगर हमारे सामने *अन्कंडीश्नल* और *कंडीश्नल* दोनों हों यानी एक क़ानून एक जगह बिना किसी शर्त के बयान किया गया हो और एक जगह शर्त के साथ बयान किया गया हो तो आम बोलचाल के हिसाब से हम *अन्कंडीश्नल* क़ानून को *कंडीश्नल* क़ानून पर फ़िट कर देते हैं।

जो आयतें अभी ऊपर लिखी गई हैं वह सब की सब *अन्कंडीश्नल* आयतें हैं जिनमें किसी भी तरह की कोई शर्त नहीं लगी है। इन आयतों से हटकर कुछ दूसरी आयतें भी हैं जो *कंडीश्नल* हैं जिनमें कोई न कोई शर्त लगी हुई है यानी इन आयतों में अल्लाह इस तरह फ़रमाता हैः

ऐ मुसलमानो! इन काफ़िरों के साथ जंग करो क्योंकि यह काफ़िर तुम्हारे ऊपर ज़ुल्म व अत्याचार कर रहे हैं। इन से जंग करो क्योंकि यह तुम से जंग कर रहे हैं।

इसका मतलब यह हुआ कि जिस आयत में खुदा कहता है किः

يَآ اَيُّهَا النَّبِیُّ جَاهِدِ الکُفَّارَ وَالمُنَافِقِینَ وَاغلُظ عَلَیهِم

> ऐ रसूल! काफ़िरों व मुनाफ़िक़ों से जंग कीजिए और उन पर सख़्ती कीजिए।

इस आयत में भी यूँ तो अल्लाह ने जंग करने के लिए कोई शर्त नहीं लगाई है लेकिन ऊपर वाले फ़ार्मूले की वजह से इस आयत का मतलब यह होगा कि इन काफ़िरों और मुनाफ़िक़ों से जंग करो क्योंकि यह तुम से जंग कर रहे हैं। इसलिए तुम भी मैदान में आ जाओ।

कंडीश्नल आयतें (Conditional Verses)

सूरए बक़रा में अल्लाह फ़रमाता हैः

قَاتِلوا فِی سَبِیلِ اللهِ الَّذِینَ یُقَاتِلونَکُم وَ لا تَعتَدُوا اِنَّ اللهَ لا یُحِبُّ المُعتَدِینَ[1]

> जो लोग तुम से जंग करते हैं तुम भी उनसे अल्लाह के लिए जंग करो मगर ज़्यादती (अत्याचार) मत करना क्योंकि अल्लाह ज़्यादती करने वालों को पसन्द नहीं करता है।

ऐ ईमान वालो! उन लोगों से जंग करो जो तुम से जंग कर रहे हैं यानी यह लोग तुम से जंग कर रहे हैं इसलिए तुम भी इनसे जंग करो लेकिन ध्यान रहे कि किसी के साथ ज़्यादती या ज़ुल्म मत करना। अपनी सीमा से आगे मत बढ़ना।

कौन सी सीमा से आगे मत बढ़ना?

वैसे इस आयत का मतलब यह है कि जो लोग तुम से जंग कर रहे हों तुम भी बस उन्हीं से जंग करो और मैदान में अपना हिसाब बराबर करो यानी जिन लोगों से तुम लड़ रहे हो उन्होंने तुम से लड़ने के लिए अपने कुछ सिपाहियों को भेजा है और यह सिपाही तुम से लड़ने के लिए तैयार हैं। अब जो सिपाही तुम से लड़ने के लिए तैयार हैं तुम भी उन सिपाहियों से लड़ने के लिए अपनी कमर कस लो। लेकिन वह लोग जो जंग करने नहीं आए हैं और जिनका हुलिया ही जंगी लोगों वाला हुलिया नहीं है जैसे बूढ़े मर्दों या बूढ़ी औरतों –बल्कि हर औरत चाहे बूढ़ी न भी हो– और बच्चों पर हाथ मत डालना या ऐसा कोई भी काम मत करना जिसे ज़ुल्म या हद से

---

[1] सूरए बक़रा/190

आगे बढ़ जाना (अत्याचार) कहा जाता है जैसे पेड़ों को मत काटना या नहरों के रास्तों को मत मोड़ना... ऐसे कामों से दूर रहना क्योंकि ऐसे कामों को *''एतेदा''* कहते हैं यानी अपनी हद से आगे बढ़ना।

इसलिए यह ग़लती नहीं होना चाहिए। कोई यह न कहने लगे कि अगर किसी जगह हमें जंग करना पड़े और हमारे पास वहाँ के घरों को ढाने के अलावा और कोई रास्ता ही न हो तो ऐसा करना ठीक है। नहीं! ऐसा बिल्कुल नहीं हो सकता।

हाँ! एक रास्ता बचता है कि अगर यह काम असली जंग का मैदान साफ़ करने के लिए हो और इससे हटकर और कोई रास्ता ही न हो तो दूसरी बात है लेकिन हम इस काम को जंगी आप्रेशन किसी भी तरह नहीं बना सकते। ऐसा करना इस्लाम में सिरे से मना है।

इसलिए इस आयत में बिल्कुल साफ़-साफ़ कहा गया है किः

قَاتِلوا فِی سَبِیلِ اللهِ الَّذِینَ یُقَاتِلونَکُم

जो लोग तुम से जंग करते हैं तुम भी उनसे जंग करो।

दूसरी आयत वही है जिस पर हम ने पिछले चैप्टर में बात की थी। एक के बाद एक सूरए हज की 5-6 आयतें हैं जिनमें से पहली आयत जिहाद के बारे में है जिसमें कहा गया है कि वह लोग तुम्हारे साथ जंग वाले हालात बनाए हुए हैं, उन्होंने तुम्हारे मुक़ाबले में तलवारें निकाल ली हैं इसलिए तुम्हें भी जिहाद की छूट दी जा रही है।

एक और आयत सूरए तौबा की आयत/36 हैः

قَاتِلوا المُشرِکِینَ کَآفَّةً کَمَا یُقَاتِلُونَکُم

सारे मुश्रिकों से ऐसे जंग करो जैसे वह तुम से जंग करते हैं।

जिन पर मुसीबतें टूटी हों उनकी मदद करना

इस आयत और अगली आयत को समझने के लिए पहले हमें एक दूसरी बात भी समझना होगी और वह यह किः

हम ने कहा कि हो सकता है कि जिहाद की इजाज़त (Permission) *कंडीश्नल* हो।

इसका क्या मतलब है? इसका मतलब यह है कि इस्लाम जिहाद की इजाज़त तो दे रहा है मगर उसने साथ में एक शर्त भी लगा दी है। यानी सामने वाला हमला कर रहा है, आपके ऊपर ज़ुल्म व अत्याचार कर रहा है और आपसे जंग कर रहा है। चूँकि वह आपसे जंग कर रहा है इसलिए आप भी उससे जंग कीजिए। यह है शर्त।

क्या बस यही एक शर्त है कि अगर सामने वाला हम से जंग कर रहा हो तो हमें भी उससे जंग करना है या इससे हटकर कोई और शर्त भी है?

दूसरी शर्त यह भी हो सकती है कि सामने वाला हम से तो जंग नहीं करना चाहता मगर दूसरे कुछ लोगों पर खुला ज़ुल्म व अत्याचार कर रहा है। इधर हमारे पास भी इतनी ताक़त है कि हम उन लोगों को बचा सकते हैं जिनके ऊपर ज़ुल्म हो रहा है। अब अगर हम ने उन लोगों का साथ नहीं दिया और उन पर होने वाले ज़ुल्म को उनसे दूर नहीं भगाया तो यह बिल्कुल ऐसे ही है जैसे हम ख़ुद उस ज़ुल्म में बराबर के भागीदार हों।

जैसे हम एक ऐसी जगह पर रह रहे हैं जहाँ हम पर तो कोई ज़ुल्म नहीं हो रहा है मगर हम से हटकर कुछ दूसरे लोगों पर ज़ुल्म ज़रूर हो रहा है, इससे भी फ़र्क़ नहीं पड़ता कि जिन पर ज़ुल्म हो रहा है वह मुसलमान हैं कि नहीं। अगर मुसलमान हों तो इसका नमूना बिल्कुल फ़िलिस्तीन जैसा है कि इस्राईल ने फ़िलिस्तीनियों के घरों को उजाड़ दिया है, उनके माल–दौलत को लूट

लिया है और उन पर तरह–तरह का ज़ुल्म कर रहा है। यह सारा ज़ुल्म फ़िलिस्तीनियों पर हो रहा है जो कि मुसलमान हैं लेकिन यह ज़ुल्म सीधे हम से जुड़ा हुआ नहीं है। अब हम क्या करें? क्या हमारे लिए जायज़ है कि हम इन मुसलमानों की मदद के लिए दौड़ पड़ें जिन पर ज़ुल्म हो रहा है?

जी हाँ! यह भी जायज़ है बल्कि वाजिब है। यह जंग शुरू करना नहीं है बल्कि यह तो उन लोगों की मदद करना है जिन पर ज़ुल्म हो रहा है, ख़ासकर इन हालात में जबकि जिन पर ज़ुल्म हो रहा है वह मुसलमान भी हैं।

दबाव के ख़िलाफ़ जंग

अब अगर जिन पर ज़ुल्म हो रहा है वह मुसलमान न हों तो इसके भी दो रास्ते हैं। एक यह कि ज़ुल्म करने वाले ने लोगों को एक ऐसे घुटन भरे माहौल में रखा हुआ है कि उन तक इस्लाम का मैसेज पहुँच ही नहीं पा रहा है। दुनिया भर में अपना मैसेज पहुँचाने को इस्लाम अपना हक़ समझता है लेकिन यह मैसेज तभी लोगों तक पहुँच सकता है जब मैसेज को आगे बढ़ाने की आज़ादी भी हो कि लोगों के बीच जाकर अपना मैसेज पहुँचाया जा सके।

आप ज़रा एक ऐसी हुकूमत के बारे में सोचिए जिसने अपनी जनता और मुसलमानों के बीच रूकावटें खड़ी कर रखी हैं जिसकी वजह से मुसलमान इस्लाम का मैसेज उन लोगों के बीच पहुँचा ही नहीं पा रहे हैं। हुकूमत का कहना है कि हमारे मुल्क में किसी भी मुसलमान को अपनी बात रखने का हक़ नहीं है।

अब इन हालात में पब्लिक से जंग करना बिल्कुल जायज़ नहीं है क्योंकि यहां पब्लिक का कोई गुनाह नहीं

है और न ही उसकी कोई ग़लती है। उसको कुछ पता ही नहीं है लेकिन क्या इस गुमराह हुकूमत से जंग करना जायज़ है जिसने एक घिसी-पिटी आइडियॉलोजी को अपनी पॉलिसी बना रखा है और इस पॉलिसी को एक ज़न्जीर बनाकर अपने लोगों को उसमें जकड़ रखा है जिसकी वजह से उन लोगों तक इस्लाम का मैसेज नहीं पहुँच पा रहा है? क्या ऐसी हुकूमत से जंग करना जायज़ है ताकि जनता को कुछ सोचने-समझने की आज़ादी मिल सके? क्या ऐसे घुटन भरे माहौल के सामने डट जाना जायज़ है?

इस्लाम के हिसाब से यह भी जायज़ है क्योंकि यह भी ज़ुल्म से एक तरह की लड़ाई ही है, चाहे जिस पर ज़ुल्म हो रहा हो उसे पता ही न हो कि उस पर ज़ुल्म हो रहा है और चाहे वह आपको अपनी मदद के लिए न भी बुलाए।

क्या मदद के लिए बुलाना ज़रूरी है

जिस पर ज़ुल्म हुआ है अगर वह हम से मदद माँगे तो क्या हमारे लिए जायज़ है या हमारे ऊपर वाजिब है कि हम उसकी मदद करें बल्कि अगर मदद न भी माँगे क्या तब भी उसकी मदद करना जायज़ या वाजिब है?

नहीं! ज़रूरी नहीं है कि वह हम से मदद माँगे बल्कि इतना ही काफ़ी है कि उस पर ज़ुल्म हुआ हो और यह ज़ुल्म उसकी सआदत व कमाल (Perfection) में रूकावट बना हुआ हो यानी यह ज़ुल्म ऐसा है जिसकी वजह से हक़ की आवाज़ उन लोगों तक पहुँच ही नहीं पा रही है जिन पर ज़ुल्म हो रहा है। दूसरे शब्दों में यूँ कहें कि अगर हक़ की यह आवाज़ उन तक पहुँच जाती तो वह मान लेते।

इस्लाम कहता है कि ऐसी हर रूकावट को गिराया जा सकता है जो एक हुकूमत ने अपनी जनता के रास्ते में खड़ी कर दी है।

इस्लाम के शुरू की जंगें

इस्लाम के दुनिया में आने के बाद होने वाली बहुत सारी जंगें ऐसी ही थीं। जंग करने वाले मुसलमान यही कहते थे कि हमें आम लोगों से कोई लेना-देना नहीं है बल्कि हमारी जंग बस हुकूमतों से है और यह जंग हम दूसरे लोगों को हुकूमतों की ग़ुलामी से आज़ाद कराने के लिए लड़ रहे हैं।

ईरान के रूस्तम फ़रूख़ज़ाद ने एक अरब मुसलमान से यही सवाल किया था कि आख़िर तुम चाहते क्या हो? जिस पर उस मुसलमान ने कहा थाः

> हम अल्लाह के बन्दों को बन्दों की ग़ुलामी से निकाल कर अल्लाह की बन्दगी की तरफ़ निकालने के लिए आए हैं।

वह अरब मुसलमान यही कहना चाह रहा था कि तुम लोगों ने ताक़त के बल पर अपनी जनता को अपना ग़ुलाम बना रखा है। हम तुम्हारे मुल्क में रहने वाले आम लोगों को तुम्हारी ग़ुलामी से निकाल कर अल्लाह की बन्दगी की तरफ़ ले जाना चाहते हैं।

रसूले इस्लाम[स०] ने *अहले किताब* के नाम एक ख़त लिखा था जिसमें यह आयत ख़ासकर लिखी थीः

قُل يآ اَهلَ الكِتابِ تَعالَوا اِلیٰ کَلِمَةٍ سوَآءٍ بَینَنَاوَبَینَکُم اَلَّا نَعبُدَ اِلَّا اللّٰہَ وَ لَا
نُشرِکَ بِہٖ شَیئاً وَّ لا یَتَّخِذَ بَعضُنَا بَعضاً اَربَاباً مِّن دُونِ اللّٰہِ[1]

---

[1] सूरए आले इमरान/64

> आप कह दीजिए कि ऐ *अहले किताब!* आओ एक इन्साफ़ भरे *कलेमे* (शब्द) पर एक हो जाएँ कि अल्लाह के अलावा किसी की इबादत न करें, किसी को उसका शरीक व भागीदार न बनाएँ और आपस में एक-दूसरे को ख़ुदाई का दर्जा न दें।

यानी ऐ रसूल! इन अहले किताब से कह दीजिए [यह वही अहले किताब हैं जिन से जिहाद करने का हुक्म आया है] कि आओ! एक *कलेमे* पर इकट्ठे हो जाएँ। यह वही *कलेमा* है जो हम दोनों के लिए बराबर है। यानी हम यह नहीं कह रहे हैं कि वह बात मान लो जो हमारे फ़ाएदे में है बल्कि हम यह कह रहे हैं कि एक ऐसी बात मान लो जो हम सब के फ़ाएदे में है।

अगर हम किसी समाज से कहें कि आप हमारी ज़बान सीख लीजिए तो उस समाज के लोगों को हम से यह पूछने का पूरा-पूरा हक़ है कि हम आपकी ज़बान क्यों सीखें? वह हम से कहेंगे कि हमारी अपनी ज़बान है और आपकी अपनी ज़बान है, हम आपकी ज़बान क्यों सीखें?

इसी तरह अगर हम कहें कि हमारा कल्चर और हमारी रस्में अपना लीजिए तो भी वह पूछेंगे कि हम अपकी रस्में या कल्चर क्यों अपनाएँ? हमारा ख़ुद अपना कल्चर और रस्में है, हम तो बस उसी पर चलेंगे, आपके कल्चर पर क्यों चलें?

लेकिन इसके उलट अगर हम कहें कि आइए! एक ऐसी बात मान लेते हैं जो न हमारी प्रापर्टी है और न आपकी, सब की प्रापर्टी है। आइए! उसकी ख़ुदाई को मान लेते हैं जो हम सब का ख़ुदा है। यह तो हम में से किसी एक की प्रापर्टी नहीं है ना! आइए बस उसकी इबादत करते हैं जो हम सब को पैदा करने वाला है, जो हमें भी पैदा करने वाला है और आपको भी। उसका

रिश्ता हम सब से एक जैसा और बराबर का है। इसीलिए अल्लाह ने क़ुरआन में फ़रमाया हैः

تعالَوا اِلیٰ کَلِمۃٍ سوَآءٍ بَینَنَاوبَینَکُم

अल्लाह के अलावा किसी की इबादत न करो क्योंकि वही सब को पैदा करने वाला है।

एक और बात जो हमारे और आपके, दोनों के लिए बराबर है वह यह हैः

وَ لا یَتَّخِذَ بَعضُنَا بَعضاً اَربَاباً مِن دُونِ اللہِ

हम में से कुछ लोग अपने बीच में से कुछ दूसरे लोगों को अपना रब (पालने वाला) न बनाएँ और आपस में एक-दूसरे को ख़ुदाई का दर्जा न दें। यानी ग़ुलामी वाला सिस्टम ख़त्म और आपसी बराबरी का दौर शुरू।

यह आयत इस बात का ऐलान कर रही है कि अगर हम जंग करते हैं तो उस चीज़ के लिए जंग करते हैं जो सारे इन्सानों के लिए एक जैसी और बराबर है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह बात साबित होती है कि एक शर्त जो हमारे *अन्कंडीश्नल* को *कंडीश्नल* कर सकती है वह यह है कि अगर कुछ लोग दूसरों के ज़ुल्म का शिकार हों तो उन्हें उस ज़ुल्म से छुटकारा दिलाने के लिए जंग करना जायज़ होता है।

अब हम इस बारे में दो बातें और आपके सामने रख रहे हैं।

सूरए अन्फ़ाल की आयत/39 कहती हैः

وَقَاتِلوھُم حتّٰی لا تَکُونَ فِتنَۃٌ وَ یَکُونَ الدّینُ کُلُّہ لِلہِ

> तुम लोग तब तक जंग करो जब तक कि फ़ितना ख़त्म न हो जाए और सारा धर्म बस अल्लाह के लिए रह जाए।

यानी उनके ख़िलाफ़ तब तक जंग करते रहो जब तक कि फ़ितना जड़ से ख़त्म न हो जाए।

फ़ितना किसे कहते हैं ?

यानी उन लोगों से जंग करो जो तुम्हारे बीच आकर फ़ितने फैलाते हैं और चाहते हैं कि मुसलमानों को उनके धर्म से बाहर निकाल दें। इन लोगों से तब तक जंग करते रहो जब तक कि यह फ़ितने ख़त्म न हो जाएँ।

यह ख़ुद एक शर्त है।

दूसरी आयत सूरए निसा की आयत/75 हैः

وَما لَكُم لا تُقَاتِلُونَ فِى سَبِيلِ اللهِ وَالمُستَضعَفِينَ مِنَ الرِّجَالِ وَالنِّساءِ وَالوِلدَانِ

> आख़िर तुम्हें क्या हो गया है कि तुम अल्लाह के लिए और इन कमज़ोर मर्दों, औरतों व बच्चों के लिए जिहाद नहीं करते हो ?

यानी ऐ मुसलमानो! अल्लाह के लिए और मुसीबतों में घिरे इन बेचारे मर्दों, औरतों व बच्चों की आज़ादी के लिए जिहाद क्यों नहीं करते हो ?

कंडीशनल–अन्कंडीशनल फ़ार्मूला

(Conditional–Unconditonal Formula)

यह पाँच आयतें जिनके बारे में अभी ऊपर बात हुई है, इन से पता चलता है कि जंग के लिए कुछ आयतों में इस्लाम का हुक्म *अन्कंडीश्नल* है और कुछ आयतों में *कंडीश्नल*।

कंडीश्नल–अन्कंडीश्नल के युनिवर्सल फ़ार्मूले के तहत *अन्कंडीश्नल* को *कंडीश्नल* पर फ़िट करना होगा जिस पर हम पहले बात कर चुके हैं।

क़ुरआन में कुछ आयतें ऐसी भी हैं जो इस बात का साफ़–साफ़ एलान करती हैं कि अगर लोगों के बीच इस्लाम का मैसेज फैलाना हो तो उन्हें इस्लाम के बारे में

बताया जाए और समझा-बुझाकर इस्लाम का मैसेज फैलाया जाए, न कि ज़ोर-ज़बरदस्ती से।

यह भी इस बात का सुबूत है कि इस्लाम ज़ोर-ज़बरदस्ती या ताक़त के बल पर लोगों से नहीं कहता है कि या तो मुसलमान हो जाओ या मरने के लिए तैयार हो जाओ।

एक दूसरी तरह से यह आयतें भी *अन्कंडीश्नल* आयतों के मायनी को और अच्छे से समझा रही हैं।

इस्लाम में ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं है (ला इक-राहा फ़िद्दीन)

आयतुल कुर्सी की एक आयत का यह टुकड़ा बड़ा मशहूर हैः

لَآ اِكرَاهَ فِى الدِّينِ قَد تَّبَيَّنَ الرُّشدُ مِنَ الغَيِّ

> यानी दीन (इस्लाम) में किसी तरह की ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं है। हिदायत (Right Path) गुमराही से अलग करके साफ़-साफ़ बयान कर दी गई है।

यानी ऐ रसूल! आप लोगों को हिदायत -इस्लाम- का सीधा रास्ता साफ़-साफ़ बता दीजिए क्योंकि हक़ीक़त (Reality) ख़ुद ही खुल कर सामने आ जाने वाली चीज़ है।

धर्म के मामले में किसी भी तरह की ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं होना चाहिए यानी किसी को मुसलमान बनने पर मजबूर मत करो।

यह आयत बिल्कुल खुली आयत है। जो कुछ कह रही है बिल्कुल साफ़-साफ़ कह रही है। क़ुरआन की तफ़सीर की किताबों में लिखा है कि मदीने में एक आदमी पहले बुतों की पूजा करता था जो अब मुसलमान

हो चुका था। उसके दो बेटे थे और दोनों ही ईसाई हो गए थे और वह भी बड़े कट्टर ईसाई जिन्हें देख-देखकर उनके बाप का दिल कुढ़ता रहता था और उसे बड़ा अफ़सोस होता था। एक दिन वह रसूले इस्लाम[स०] के पास आकर बोला कि ऐ अल्लाह के रसूल! मैं क्या करूँ? मेरे दोनों बेटे ईसाई हो गए हैं। मैंने अपनी सारी कोशिश कर डाली लेकिन वह मुसलमान होते ही नहीं। क्या आप मुझे इस बात की छूट देंगे कि मैं उन्हें मजबूर करके मुसलमान बना लूँ? रसूले इस्लाम[स०] ने फ़रमाया कि नहीं! ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि *ला इक-राहा फ़िद्दीन*, इस्लाम में ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं हैं।

उलमा ने इस आयत के उतरने के बारे में यह भी लिखा है कि मदीने में दो क़बीले थे *औस* व *ख़ज़रज* और यही लोग मदीने के असली रहने वाले थे। इनके पड़ोस में यहूदियों के कुछ बड़े क़बीले भी रहते थे जो बाद में आकर मदीने में बस गए थे। उनमें से एक क़बीले का नाम *बनी नुज़ैर* और दूसरे का *बनी क़ुरैज़ा* था। यहूदियों का एक और क़बीला भी था जो मदीने के बाहर रहता था।

यहूदी अपने यहूदी धर्म, अपनी आसमानी किताब, अपने ऊँचे कल्चर और अपने पढ़े-लिखे होने की वजह से मदीने वालों को अपने कन्ट्रोल में रखते थे क्योंकि मदीने वाले बुतों की पूजा भी करते थे और पढ़े-लिखे भी नहीं थे। *औस* व *ख़ज़रज* का धर्म यहूदियों के धर्म से बिल्कुल अलग था इसके बावजूद वह यहूदियों के अक़ीदे (Beliefs) के असर में आ गए थे। कई बार वह अपने बच्चों को पढ़ने-लिखने के लिए यहूदियों के पास भी भेज दिया करते थे। कभी-कभार ऐसा भी होता था कि यहूदियों के पास पढ़ने जाने वाले उनके कुछ बच्चे बुतों की पूजा छोड़कर यहूदी हो जाते थे।

जब रसूले इस्लाम[स०] मक्का छोड़कर मदीने पहुँचे तो मदीने वालों के कुछ बच्चे इन्हीं यहूदियों के यहाँ पल-बढ़

रहे थे और वह यहूदी भी हो गए थे। उनके माँ–बाप तो मुसलमान हो गए थे लेकिन वह अभी तक यहूदी ही थे। जब यह फ़ैसला हो गया कि अब यहूदियों को मदीना छोड़कर कहीं और जाना ही होगा तो वह बच्चे भी यहूदियों के साथ–साथ चल दिए। कुछ बच्चों के बाप अल्लाह के रसूल के पास आए और कहने लगे कि हम अपने बच्चों को इन यहूदियों से अपने पास लाना चाहते हैं ताकि हमारे बच्चे भी मुसलमान हो जाएँ लेकिन अल्लाह के रसूल[स०] ने मना कर दिया। उन लोगों ने कहा कि ऐ अल्लाह के रसूल! हमें ज़बरदस्ती उनसे छीन कर अपने बच्चों को लाने दीजिए ताकि हम उन्हें भी मुसलमान बना लें! अल्लाह के रसूल[स०] ने फ़रमाया कि नहीं! जब उन्होंने अपना रास्ता ख़ुद चुन ही लिया है तो उन्हें उन्हीं के साथ जाने दो।

उलमा कहते हैं कि तभी यह आयत उतरी थीः

لَآ اِکۡرَاہَ فِی الدِّینِ قَد تَّبَیَّنَ الرُّشدُ مِنَ الغَیِّ

यानी दीन (इस्लाम) में किसी तरह की ज़ोर–ज़बरदस्ती नहीं है। हिदायत (Right Path) गुमराही से अलग करके साफ़–साफ़ बयान कर दी गई है।

इसी सिलसिले की एक और आयत यह हैः

اُدعُ اِلَی سَبِیلِ رَبِّکَ بِالحِکمَۃِ وَ المَوعِظَۃِ الحَسَنَۃِ وَجَادِلھُم بِالَّتِی ھِیَ اَحسَنُ[1]

अपने पालने वाले के रास्ते की तरफ़ हिकमत (Wisdom) और अच्छी नसीहत से बुलाइए और उनसे उस तरह से बहस कीजिए जो बेहतरीन तरीक़ा है।

[1] सूरए नहल/125

अपने पालने वाले के रास्ते की तरफ़ बुलाइए! कैसे? ज़ोर-ज़बरदस्ती से? तलवार से? ताक़त के बल पर? नहीं बल्कि हिकमत (Wisdom), लॉजिक, अच्छे अन्दाज़ और अच्छी नसीहत से। जो लोग भी आपसे बहस करें आप भी उनसे अच्छे अन्दाज़ से बहस कीजिए।

यह आयत भी हमें साफ़-साफ़ बता रही है कि इस्लाम को कैसे फैलाना है।

एक आयत में अल्लाह इस तरह फ़रमाता हैः

قُلِ الحَقُّ مِن رَّبِّکُم فَمَن شَاءَ فَلیُومِن وَمَن شَاءَ فَلیَکفُر[1]

> कह दीजिए कि हक़ तुम्हारे पालने वाले की तरफ़ से है। अब जिसका जी चाहे ईमान ले आए और जिसका जी चाहे काफ़िर हो जाए।

जिसका दिल चाहे ईमान ले आए और जिसका दिल ईमान को न अपना सके और काफ़िर रहना चाहे वह काफ़िर हो जाए।

इस तरह यह आयत भी यही कह रही है कि ईमान और कुफ़्र[2] इन्सान की अपनी मर्ज़ी पर है। इसलिए ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं की जा सकती। इस्लाम कभी नहीं कहता कि दूसरों को मजबूर करके मुसलमान बना लो। इस्लाम कभी नहीं कहता कि अगर मुसलमान हो जाएँ तो बहुत अच्छी बात है वरना मार डालो। नहीं बल्कि जो भी करना है वह इन्सान को अपनी मर्ज़ी से करना है, जो चाहे मोमिन बन जाए और जो चाहे काफ़िर बन जाए।

एक और आयतः

لَو شَاءَ رَبُّکَ لَآ مَنَ مَن فِی الاَرضِ کُلُّهُم جَمِیعاً اَفَاَنتَ تُکرِهُ النَّاسَ حَتّٰی یَکُونُوا مَومِنِینَ[3]

---

[1] सूरए कहफ़/29
[2] अल्लाह को न मानना
[3] सूरए यूनुस/99

> अगर आपका पालने वाला चाहता तो ज़मीन पर रहने वाले सब के सब ईमान ले आते, तो क्या आप लोगों को ईमान लाने पर मजबूर करेंगे ?

अल्लाह अपने रसूल से बात कर रहा है। रसूले इस्लाम[स०] की दिली चाहत थी कि सब के सब ईमान ले आएँ लेकिन क़ुरआन ने कहा कि ईमान लाने या न लाने में ज़ोर–ज़बरदस्ती नहीं चलाई जा सकती। अगर लोगों को ज़बरदस्ती से ही मुसलमान बनाना होता तो अल्लाह अपनी ताक़त से यह काम बड़ी आसानी से कर सकता था लेकिन उसने ऐसा नहीं किया क्योंकि ईमान वह फ़ैक्टर है जो लोगों को अपनी मर्ज़ी से चुनना या ठुकराना है। इसी वजह से अल्लाह ने अपनी ताक़त के बल पर किसी को ईमान लाने पर मजबूर नहीं किया है। उसने हर एक को आज़ाद छोड़ दिया है और इस्लाम को क़ुबूल करने या न करने का पूरा कन्ट्रोल ख़ुद इन्सान के हाथ ही में दे दिया है।

इसलिए अल्लाह अपने रसूल से कह रहा है कि आप भी लोगों को आज़ाद छोड़ दीजिए ताकि जिसका जी चाहे ईमान ले आए और जिसका जी न चाहे वह ईमान न लाए।

इस सिलसिले की अगली आयत यह हैः

لَعَلَّکَ بَاخِعٌ نَفسَکَ اَلَّا يَکُونُوا مُومِنِينَ[1]

> क्या आप अपनी जान ख़तरे में डाल देंगे कि यह लोग ईमान नहीं ला रहे हैं ?

अल्लाह अपने रसूल से कह रहा है कि ऐ रसूल! ऐसा लगता है कि आप अपनी जान ख़तरे में डाल लेंगे क्योंकि यह लोग ईमान नहीं ला रहे हैं। आप इतने दुखी मत होइए। अगर हम चाहते तो अपनी ताक़त से सब के

---

[1] सूरए शौअरा/3

दिल में ईमान डाल देते क्योंकि हमारा रास्ता खुला हुआ और बड़ा आसान हैः

اِن نَّشَا نُنَزِّل عَلَيهِم مِنَ السَّمَاءِ آيَۃً فَظَلَّت اَعنَاقُهُم لَهَا خَاضِعِينَ[1]

> अगर हम चाहते तो आसमान से आयत उतार देते कि उनकी गर्दनें ख़ुज़ू (Humility) के साथ झुक जातीं।

अल्लाह फिर अपने रसूल से कह रहा है कि अगर हम चाहते तो आसमान से आयत उतार देते, अज़ाब भेज देते और लोगों से कह देते कि या तो ईमान ले आओ या हम तुम्हें अपने अज़ाब से बर्बाद कर देंगे जिसका रिज़ल्ट यह निकलता कि सब के सब मजबूर होकर ईमान ले आते लेकिन हम ने यह काम नहीं किया क्योंकि हम चाहते हैं कि लोग अपनी मर्ज़ी से ईमान लाएँ, न कि मजबूर होकर।

यह सारी आयतें जिहाद के बारे में इस्लामी थ्योरी को साफ़-साफ़ बता रही हैं कि इस्लाम में जिहाद का क़ानून इसलिए नहीं है कि लोगों को ताक़त के बल पर मजबूर करके मुसलमान बना लिया जाए। इस बात का ढिंढोरा कुछ मतलबी लोग पीटते भी फिरते हैं कि इस्लाम चाहता है कि जो भी काफ़िर है उसके सर पर तलवार लटका दी जाए कि या तो मुसलमान हो जाओ या फिर मरने के लिए तैयार हो जाओ। नहीं! ऐसा बिल्कुल नहीं है।

शान्ति के साथ मिल-जुल कर रहना

दूसरी तरह की कुछ आयतें और भी हैं। आइए! उन पर भी एक नज़र डालते हैं।

---

[1] सूरए शौअरा/4

इस्लाम अमन-शान्ति को बहुत मानता है। इसी लिए एक आयत में बिल्कुल साफ़-साफ़ यही शब्द आया हैः

وَالصُّلحُ خَيرٌ[1]

सुलोह (Peace) अच्छी चीज़ है।

हम पहले भी कह चुके हैं कि सुलोह व शान्ति एक अलग चीज़ है और ज़ुल्म के आगे घुटने टेक देना या नीचता व अपमान को अपना लेना एक अलग चीज़ है।

एक दूसरी आयत में अल्लाह फ़रमाता हैः

يَا اَيُّهَا الَّذِينَ آمَنُوا اُدخُلُوا فِى السِّلمِ كَآفَّةً[2]

ऐ ईमान वालो! तुम सब पूरी तरह से सुलोह (शान्ति) के अन्दर आ जाओ।

यह आयत तभी हमारे काम आ पाएगी जब 'सिल्म' का मतलब सुलोह हो।

लेकिन इस से भी ज़्यादा खुली आयत यह हैः

اِن جَنَحُوا لِلسِّلمِ فَاجنَح لَهَا وَ تَوَكَّل عَلَى اللهِ[3]

अगर वह सुलोह करना चाहते हों तो तुम भी झुक जाओ और अल्लाह पर भरोसा करो।

ऐ रसूल! अगर आपके दुश्मन मिलजुल कर रहने पर तैयार हो जाएँ और समझौते के लिए अपने हाथ फैला दें तो आप भी समझौते के लिए तैयार हो जाइए यानी अगर वह समझौता करना चाहें तो आप भी समझौता कर लीजिए।

---

[1] सूरए निसा/128
[2] सूरए बक़रा/208
[3] सूरए अन्फ़ाल/61

इन आयतों से भी यही पता चलता है कि इस्लाम अमन–शान्ति और प्यार–मोहब्बत का धर्म है।

सूरए निसा की आयत/90 में अल्लाह फ़रमा रहा हैः

فَاِنِ اعتَزَلُوكُم فَلَم يُقَاتِلُوكُم وَاَلقَوااِلَيكُم السَّلَمَ فَمَا جَعَلَ اللهُ لَكُم عَلَيهِم سَبِيلاً

ऐ रसूल! अगर वह लोग जंग से पीछे हट जाएँ और समझौते का मैसेज भेज दें तो ख़ुदा आप को इस बात की छूट नहीं देता कि आप आगे बढ़कर जंग करने लगें।

एक दूसरी आयत में अल्लाह मुनाफ़िक़ों[1] के बारे में इस तरह फ़रमाता हैः

فَاِن تَوَلَّوا فَخُذُوهُم وَاقتُلُوهُم حَيثُ وَجَدتُّمُوهُم وَلَا تَتَّخِذُوامِنهُم وَلِيًّا وَّلَا نَصِيراً
اِلَّا الَّذِينَ يَصِلُونَ اِلٰى قَومٍ بَينَكُم وَبَينَهُم مِيثَاقٌ اَو جَاءُوكُم حَصِرَت صُدُورُهُم اَن
يُقَاتِلُوكُم اَو يُقَاتِلُواقَومَهم[2]

वह सारे मुनाफ़िक़ जो तुम से जंग करने में लगे हुए हैं अगर वह भागें तो उन्हें पकड़ लो और जहाँ कहीं पाओ उन्हें क़त्ल कर दो। ख़बरदार! उन से दोस्ती मत करना और न ही उनसे मदद लेना, लेकिन जो उन लोगों से जा मिलें जिनका तुम्हारे साथ समझौता हो और तुम्हारे साथ समझौता करने पर तैयार हों तो उन्हें क़त्ल न करना या वह लोग जो जंग से दुखी हो गए हों उनसे भी जंग न करना।

हम ने यहाँ चार तरह की आयतें आपके सामने रखी हैं। पहली आयतें वह हैं जो बिना किसी शर्त के जंग करने का हुक्म देती हैं। अगर हम बस यही आयतें देखते और दूसरी आयतें हमारे सामने न होतीं तो शायद हम भी कह देते कि इस्लाम जंगों और तलवारों का धर्म है।

दूसरी तरह की आयतें वह हैं जो दूसरों से जंग करने का हुक्म तो देती हैं मगर साथ में शर्तें भी लगा रही हैं

---

[1] मुनाफ़िक़ उन लोगों को कहते हैं जिनके दिल में कुछ होता है और ज़बान पर कुछ यानी दो रँग की बातें करने वाले लोग

[2] सूरए निसा/89–90

जैसे कि यह शर्त कि उन लोगों से जंग करो जो तुम से जंग करने पर तुले हुए हैं या जिन्होंने कुछ मुसलमानों या ग़ैर–मुसलमानों को अपने पैरों तले रौंद कर उनकी आज़ादी छीन ली हो और उनके अधिकार हड़प लिए हों।

तीसरी तरह की आयतें वह हैं जो साफ़–साफ़ कहती हैं कि इस्लाम मुसलमान होने के लिए किसी को मजबूर नहीं करता है और न ही यह ज़ोर–ज़बरदस्ती वाला धर्म है।

चौथी आयतें वह हैं जिनमें इस्लाम खुल्लम–खुल्ला अमन–शान्ति का साथ देने का ऐलान कर रहा है।

(3)

قاتِلُوا الَّذِين لا يُومِنُونَ باللهِ وَلا باليَومِ الآخِر وَلا يُحَرِّمون ما حَرَّمَ اللهُ وَرَسُولُہ
و لا يَدينُون دِينَ الحقِّ مِنَ الَّذِين أُوتُوالكِتابَ حتّى يُعطُوا الجِزيةَ عَن يَدٍوَّهُم
صاغِرُونَ[1]

उन लोगों से जिहाद करो जो अल्लाह और क़यामत पर ईमान नहीं रखते और जिस चीज़ को अल्लाह और उसके रसूल ने हराम बताया

[1] सूरए तौबा/29

> है उसे हराम नहीं समझते और *अहले किताब* होते हुए भी दीने हक़ (अल्लाह के भेजे हुए धर्म) पर नहीं चलते... यहाँ तक कि तुम्हारे सामने अपना सर झुका दें और अपने हाथों से जिज़्या[1] देने पर तैयार हो जाएँ।

यहाँ एक सवाल यह भी है कि इस्लाम में जिहाद आख़िर है क्या? जिहाद किस चीज़ को कहते हैं? जिहाद की असलियत क्या है?

इस बात को तो सारे उलमा मानते हैं कि जिहाद की असलियत डिफ़ेंस है यानी इस बारे में किसी को भी कोई शक नहीं है कि इस्लाम में ऐसा कोई भी जिहाद, जंग या हमला जायज़ ही नहीं है जो दूसरों के माल-दौलत को हथियाने और उनके रिर्सोसेस पर क़ब्ज़ा करने के लिए हो। इसी बात को दूसरी तरह से हम ऐसे भी कह सकते हैं कि इस्लाम में ऐसा कोई भी जिहाद नहीं किया जा सकता जो किसी समाज के फ़ाइनेंशल रिर्सोसेस को हथियाने और उसकी जन-शक्ति को अपने फ़ाएदे में इस्तेमाल करने के लिए हो। इस्लाम में इस तरह की जंग भी एक तरह का ज़ुल्म अत्याचार ही है।

असल में जिहाद बस अपना डिफ़ेंस करने और हो रहे ज़ुल्म से जंग करने के लिए मैदान में कूद पड़ने का नाम है और यह जिहाद जायज़ भी हो सकता है।

लेकिन इसके साथ-साथ एक तीसरा रास्ता और भी है जो न दूसरों के माल-दौलत और उनकी ताक़त को हथियाने के लिए है और न उन्हें लूटने-खसोटने के लिए और न ख़ुद को या किसी ह्युमेन वेल्यु को बचाने के लिए है बल्कि यह एक ह्युमेन वेल्यु को ''फैलाने'' के लिए है जिस पर हम बाद में बात करेंगे।

इसलिए इस बात में तो किसी को कोई शक नहीं है कि जिहाद या जंग सिर्फ़ डिफ़ेंस के लिए हो सकती है।

---

[1] जिज़्ये पर हम आगे चलकर बात करेंगे

उलमा के बीच इस मामले में अगर कोई सवाल है तो सिर्फ़ यह कि डिफ़ेंस क्या है और किस चीज़ को कहते हैं।

डिफ़ेंस कितनी तरह का हो सकता है?

इस मामले मे कुछ लोगों की सोच बड़ी छोटी है। उनका कहना है कि डिफ़ेंस का मतलब इन्सान का ख़ुद अपना डिफ़ेंस करना है। जंग क़ानूनी तौर पर तभी जायज़ है जब इन्सान अपनी या एक क़ौम की हैसियत से अपना और अपनी ज़िन्दगी का डिफ़ेंस करे।

इसलिए अगर एक क़ौम की ज़िन्दगी पर किसी दूसरे की तरफ़ से कोई ख़तरा हो तो इन हालात में अपनी ज़िन्दगी का बचाव करना जायज़ है। इसी तरह अगर उसकी हुकूमत और उसके माल–दौलत को भी ख़तरा हो तो तब भी ह्युमेन राइट्स की बुनियाद पर उसे अपना बचाव करने का हक़ है या अगर कोई क़ौम किसी दूसरी क़ौम के माल–दौलत को हथियाना चाहती हो और लूटना चाहती हो तो भी उस क़ौम को अपने माल–दौलत को बचाने का पूरा–पूरा हक़ है, चाहे इसके लिए जंग ही क्यों न करना पड़े।

इस्लाम कहता है:

> जो अपने माल या अपने घर वालों को बचाते हुए मर जाए वह शहीद है।

इस तरह अपने घर वालों का डिफ़ेंस करना भी अपनी जान–माल के लिए डिफ़ेंस करने जैसा ही है बल्कि उससे भी बढ़कर है क्योंकि यह अपनी इज़्ज़त का डिफ़ेंस है। अगर कोई समाज अपनी आज़ादी को बचाने के लिए मैदान में कूद पड़े तो यह पूरी तरह से एक जायज़ काम है।

इसलिए अगर कोई क़ौम किसी दूसरी क़ौम की आज़ादी छीनना चाहती हो और उसे अपने कन्ट्रोल में लेना चाहती हो और वह क़ौम अपनी आज़ादी को बचाना चाहती हो और इस काम के लिए हथियार भी उठा ले तो यह काम सिर्फ़ जायज़ ही नहीं बल्कि तारीफ़ के लायक़ काम भी है।

इस तरह अपनी ज़िन्दगी का डिफ़ेंस, अपने माल–दौलत का डिफ़ेंस, अपनी ज़मीन का डिफ़ेंस, अपनी आज़ादी का डिफ़ेंस और अपने घर वालों का डिफ़ेंस... यह सब जायज़ डिफ़ेंस है। इन हालात में डिफ़ेंस के जायज़ होने में किसी को भी कोई शक नहीं है।

अब कुछ ईसाईयों की यह बात सिरे से बेकार है कि धर्म को बस शान्ति का झंडा उठाना चाहिए, जंग का धर्म से कोई मतलब नहीं है क्योंकि जंग हर हाल में बुरी चीज़ है और शान्ति हर हाल में अच्छी चीज़ है।

अपने डिफ़ेंस में लड़ी जाने वाली जंग बुरी नहीं बल्कि बहुत अच्छी चीज़ है। यह तो वह चीज़ है जो सीधे आदमी की ज़िन्दगी से जुड़ी हुई है जिसके बारे में क़ुरआन करीम ने खुल कर ऐलान कर दिया हैः

لَو لا دَفعُ اللهِ النَّاسَ بَعضَهُم بِبَعضٍ لَّفَسَدَتِ الارضُ[1]

अगर अल्लाह कुछ लोगों को कुछ दूसरे लोगों के हाथों न रोकता तो सारी दुनिया में तबाही मच जाती।

या इसी तरह एक दूसरी आयत में क़ुरआन ने यह ऐलान भी कर दिया हैः

لَو لا دَفعُ اللهِ النَّاسَ بَعضَهُم بِبَعضٍ لَهُدِّمَت صَوامِعُ وَ بِيَعٌ وَّ صَلَواتٌ و
مَساجِدُ يُذكَرُ فِيها اسمُ اللهِ كَثِيراً[2]

---

[1] सूरए बक़रा/251
[2] सूरए हज/40

> अगर अल्लाह कुछ लोगों को कुछ दूसरे लोगों के हाथों न रोकता तो सारे चर्च, यहूदियों की इबादत करने की सारी जगहें, मजूसियों की इबादत करने की सारी जगहें और मस्जिदें, सब ढा दी जातीं जिनमें ख़ूब अल्लाह का नाम लिया जाता है।

इतना तो क़रीब-क़रीब सब लोग ही मानते हैं।

ह्युमेन राइट्स

यहाँ एक बात और है कि वह चीज़ जिसका डिफ़ेंस या बचाव जायज़ है, क्या वह बस यही है कि अगर एक आदमी या एक समाज के अधिकारों पर आँच आ रही हो तो क्या डिफ़ेंस करना जायज़ है? क्या मामला बस इतना सा ही है?

या जिन चीज़ों का डिफ़ेंस ज़रूरी व वाजिब है उनमें वह चीज़ें भी आती हैं जो किसी एक आदमी या किसी ख़ास समाज से जुड़ी नहीं हैं बल्कि यह ह्युमेन राइट्स का मामला है?

अब सवाल यह है कि अगर कभी मानवता का कोई अधिकार छिन रहा हो तो मानवता के उस अधिकार को वापस दिलाने के लिए जंग की जा सकती है या नहीं? ऐसी जंग जायज़ है या नाजायज़?

हो सकता है कि कोई कहे कि ह्युमेन राइट्स से हम से क्या मतलब? हमें तो बस अपने ख़ुद के अधिकारों को बचाना है या बहुत से बहुत अपने मुल्क से जुड़े अधिकारों को बचाना है, सारी मानवता के अधिकारों का हम से क्या मतलब? यानी ह्युमेन राइट्स का हम से क्या मतलब?

लेकिन जो भी ऐसा सोचता है वह ग़लत सोचता है क्योंकि यह बात ग़लत है।

ह्युमेन राइट्स का डिफ़ेंस, निजी अधिकारों या समाजी अधिकारों से भी बढ़कर है

कुछ चीज़ें ऐसी भी है जो निजी अधिकारों या समाजी अधिकारों से भी बढ़कर और पवित्र हैं जिनका डिफ़ेंस करना इन्सान की अन्तरात्मा के हिसाब से निजी अधिकारों से भी ऊँचा दर्जा रखता है। यह सब मानवता से जुड़ी पवित्र चीज़ें हैं। दूसरे शब्दों में डिफ़ेंस के पवित्र होने का मतलब यह नहीं है कि आदमी ख़ुद अपना डिफ़ेंस करे बल्कि कसौटी यह है कि ''हक़'' का डिफ़ेंस करे यानी सच्चाई का डिफ़ेंस करे। जब कसौटी सच्चाई होगी तो फिर फ़र्क़ ही नहीं पड़ता कि आदमी ख़ुद अपने अधिकारों का डिफ़ेंस कर रहा है या समाजी अधिकारों का। ह्युमेन राइट्स का डिफ़ेंस होना है, चाहे निजी हों या समाजी। इसीलिए असली चीज़ ह्युमेन राइट्स हैं। आज चाहे कोई अपनी ज़बान से यह बात न कहे मगर हो यही रहा है।

जैसे आज़ादी को आज की दुनिया में सब से ऊपर रखा जाता है। आज़ादी किसी एक आदमी या किसी एक समाज की प्रापर्टी नहीं है। अब अगर दुनिया में कहीं किसी की आज़ादी पर हमला हो जाए और उसका हम से या हमारे समाज से कोई मतलब न हो तब भी यह सब का जन्मसिद्ध अधिकार है, अगर ऐसा हो जाए तो क्या मानवता की आज़ादी के इस अधिकार का डिफ़ेंस करना जायज़ है या नहीं? अगर जायज़ है तो डिफ़ेंस करना सिर्फ़ उस आदमी या उस समाज का काम नहीं है जिसकी आज़ादी पर हमला हुआ है बल्कि मदद करने के लिए सब आगे आ सकते हैं बल्कि यह तो सब की ज़िम्मेदारी है कि जिसकी आज़ादी छीनी गई है उसे उसकी आज़ादी वापस दिलाएँ।

अब यहाँ पर हम क्या जवाब देंगे?

मुझे नहीं लगता कि कोई शक भी करेगा कि हर तरह के जिहाद और हर तरह की जंगों में सब से बुलन्द दर्जा ह्युमेन राइट्स के लिए लड़ी जाने वाली जंग का ही होता है और यही जिहाद सब से बड़ा जिहाद है।

जब अल्जेरिया फ़्रांस से अपनी आज़ादी की लड़ाई लड़ रहा था तब कुछ दूसरों ने, यहाँ तक कि युरोप वालों ने भी अपने फ़ौजी भेजकर या और दूसरी तरह से भी अल्जेरिया की मदद की थी। क्या बस अल्जेरिया वालों की ही ज़िम्मेदारी थी कि वह अपनी आज़ादी के लिए लड़ाई लड़ते? क्या ऐसा करना बस उन्हीं के लिए जायज़ था क्योंकि बस उन्हीं के अधिकारों पर हमला हुआ था? क्या दूर-दूर से आने वाले युरोपियों ने अल्जेरिया वालों की मदद करके ग़ल्ती की थी? दूसरे शब्दों में, क्या मदद करने वाले यह युरोपी ज़ालिम थे कि उनसे कहा जाए कि आपसे भला क्या मतलब? जब आपके अधिकारों पर किसी ने हमला ही नहीं किया है तो आप क्यों इस जंग में कूद रहे हैं? या नहीं बल्कि अल्जेरिया का साथ देने वालों को तो कहना चाहिए कि हम तो ह्युमेन राइट्स के लिए लड़ रहे हैं। जो लोग अल्जेरिया वालों की मदद कर रहे थे उनका जिहाद तो ख़ुद अल्जेरिया वालों के जिहाद से भी बढ़कर है क्योंकि अल्जेरिया वाले बस अपनी आज़ादी के लिए लड़ रहे थे लेकिन दूसरों का उनकी मदद को आना अल्जेरिया वालों के काम से कहीं बड़ा काम है क्योंकि वह ह्युमेन राइट्स के लिए लड़ रहे थे।

ज़ाहिर है कि दूसरी वाली बात ही सही है।

वह आज़ादी के मतवाले जो या तो सच में आज़ादी से मोहब्बत करते हैं या बस दिखावा करते हैं और इस वजह से लोगों के बीच उनकी इज़्ज़त भी होती है, इन लोगों को यह इज़्ज़त इनके इसी काम की वजह से मिलती है क्योंकि यह लोग ह्युमेन राइट्स का डिफ़ेंस करने वाले कहे जाते हैं। इनकी इज़्ज़त इस वजह से नहीं

होती है कि यह अपने निजी अधिकारों या अपने समाजी अधिकारों का डिफ़ेंस करते हैं। अगर कभी यह लोग अपनी ज़बान, अपनी बातों, अपनी राइटिंग्स व कॉलमों और लोगों में जागरूकता फैलाने से आगे बढ़कर सीधे मैदान में कूद पड़ें –जैसे फ़िलिस्तीनियों या वेतनामियों की मदद करने लगें– तो इनकी इज़्ज़त बहुत बढ़ जाती है। ऐसा नहीं होता कि दुनिया में कोई उनको बुरा-भला कहने लगे कि भला आप लोगों को इन सारी बातों से क्या मतलब ? यहाँ आपका क्या काम ?

सब से बड़ा डिफ़ेंस

दुनिया वालों का मानना है कि अगर किसी को अपने डिफ़ेंस में जंग करना पड़े तो ऐसी जंग पवित्र जंग है। यह जंग अपने डिफ़ेंस में तो पवित्र है ही, अगर अपने समाज या अपनी क़ौम के लिए हो तो और ज़्यादा पवित्र हो जाती है क्योंकि बात निजी अधिकारों से आगे बढ़कर समाजी अधिकारों तक पहुँच जाती है। इस जंग में आदमी बस अपने आप को ही नहीं बचाता है बल्कि अपने समाज को भी बचाता है। अब अगर समाजी अधिकारों का यह दायरा और बड़ा होकर ह्युमेन राइट्स को भी अपने अन्दर समेट ले तो यह काम और पवित्र माना जाएगा।

अब तक की बात से यह साबित होता है कि इस बात में कोई झगड़ा ही नहीं है कि जिहाद, डिफ़ेंस के रूप में जायज़ है। यह कोई नहीं मानता कि जिहाद डिफ़ेंस के रूप में न हो तो भी जायज़ है। सब कहते हैं कि अपना डिफ़ेंस करने के लिए जिहाद पूरी तरह जायज़ है।

बहस इस में है कि डिफ़ेंस है क्या या हम किस जंग को डिफ़ेंस कह सकते हैं ? अगर आदमी ख़ुद अपनी

जान बचाने के लिए जिहाद करे तो क्या यह भी डिफ़ेंस है? या ज़्यादा से ज़्यादा अपनी क़ौम या अपने समाज के डिफ़ेंस को ही जायज़ डिफ़ेंस कहा जा सकता है? या इस से बढ़कर दुनिया में कहीं भी सारी मानवता के लिए जंग करना भी डिफ़ेंस है?

अम्र बिल मारूफ़, ह्युमेन राइट्स का ही एक नमूना है

कुछ लोग कहते हैं और सही भी कहते हैं कि मानवता का डिफ़ेंस भी डिफ़ेंस ही है। इसलिए जो लोग अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर [अच्छाईयों की तरफ़ बुलाने और बुराईयों से रोकने] के नाम पर कोशिशें करते हैं उनकी कोशिशें भी पवित्र हैं।

हो सकता है कि कोई निजी तौर पर किसी हमले का निशाना न बना हो यानी उसकी ख़ूब इज़्ज़त होती हो, उसके पास अच्छी ज़िन्दगी जीने के लिए हर चीज़ हो, उसके समाज पर भी कोई हमला न हुआ हो लेकिन हो सकता है कि मानवता के हिसाब से उसके किसी अधिकार पर हमला हुआ हो यानी जिस समाज में वह रह रहा है वहाँ उसके या उसके समाज को हर तरह का आराम व सहूलियत मिली हुई हो लेकिन एक ऐसा इश्यु जो मानवता से जुड़ा हुआ है यानी जिस समाज में अच्छाईयाँ फैल जाना चाहिए थीं और बुराईयाँ ख़त्म हो जाना चाहिए थीं वहाँ अच्छाईयों की जगह बुराईयों ने ले ली है और बुराईयों की जगह अच्छाईयों ने।

अब इन हालात में अगर कोई अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर के नाम पर उठ खड़ा हो तो यह आदमी किस चीज़ का डिफ़ेंस कर रहा है? क्या अपने अधिकारों का डिफ़ेंस कर रहा है? नहीं!

तो क्या वह अपने समाज के सांसारिक अधिकारों का डिफ़ेंस कर रहा है? नहीं! क्योंकि इस डिफ़ेंस का सांसारिक अधिकारों से कोई नाता ही नहीं है।

यह आदमी तो एक ऐसा काम कर रहा है और एक ऐसी चीज़ के लिए लड़ रहा है जो किसी एक समाज से जुड़ी हुई नहीं है। यह वह अधिकार है जो हर आदमी का अधिकार है।

अब क्या हम ऐसे जिहाद को बुरा कहें या इसकी तारीफ़ करें?

ज़ाहिर है कि ऐसा हर जिहाद तारीफ़ के लायक़ है और इसकी तारीफ़ की जाना चाहिए क्योंकि यह ह्युमेन राइट्स का डिफ़ेंस है।

आज़ादी का डिफ़ेंस आज भी अच्छा माना जाता है

जहाँ तक आज़ादी की बात है, आप देखते ही रहते हैं कि आज जो लोग आज़ादी के नाम पर लड़ रहे हैं वह भी अपने इस काम को सही ठहराने के लिए यही कहते हैं कि हम आज़ादी के नाम पर लड़ रहे हैं क्योंकि यह लोग जानते हैं कि आज़ादी के नाम पर लड़ना और आज़ादी का डिफ़ेंस करना एक पवित्र काम है।

अगर जंग सच में आज़ादी के लिए हो रही हो तो यह बड़ी अच्छी चीज़ है। इसलिए ऐसे लोग अपने अत्याचार और हमलों को भी आज़ादी के डिफ़ेंस का नाम दे देते हैं। यह इस बात का ऐलान है कि ह्युमेन राइट्स के लिए लड़ना भी डिफ़ेंस (जिहाद) ही है। यानी ह्युमेन राइट्स के लिए जंग करना जायज़ भी है और सब के फ़ाएदे में भी है।

तौहीद एक निजी अधिकार है या यह सब का अधिकार है

ध्यान देने लायक़ एक ख़ास बात यह भी है कि क्या तौहीद –*ला इलाहा इल लल्लाह*– को ह्युमेन राइट्स में गिना जाए या न गिना जाए ?

हो सकता है कि कोई कहे कि तौहीद का ह्युमेन राइट्स से क्या मतलब क्योंकि यह तो हर आदमी का अपना निजी मामला है या बहुत से बहुत किसी समाज का अपना मामला है।

तौहीद को मानना या न मानना हर आदमी की अपनी मर्ज़ी है। चाहे वह तौहीद के रास्ते पर चले या शिर्क के रास्ते पर। अगर कोई तौहीद को अपना ले तो कोई उसे कैसे रोक सकता है क्योंकि यह उसका अपना निजी अधिकार है।

अब सवाल यह है कि अगर कोई दूसरा शिर्क के रास्ते पर चल पड़े तो क्या तब भी यह उसका निजी अधिकार है ?

किसी समाजी इकाई की क़ानूनी हालत तीन तरह की हो सकती है।

1. कभी एक समाज पहले से चले आ रहे कल्चर की वजह से तौहीद के रास्ते पर चल रहा होता है और अपने अन्दर किसी भी ऐसे आदमी को नहीं घुसने देता जो तौहीद को न मानता हो।

2. कभी एक समाज तौहीद के बजाए शिर्क को अपना पारंपरिक धर्म बना लेता है।

3. कभी ऐसा भी होता है कि एक समाज में आज़ादी होती है कि जिसका जो दिल चाहे करे, चाहे तो तौहीद को अपना ले और चाहे तो ख़ुदा का इन्कार कर दे।

एक थ्योरी यह है कि अगर तौहीद किसी समाज के समाजी क़ानूनों में से एक क़ानून हो तो तौहीद को उस

समाज के अधिकारों में गिना जाएगा और अगर ऐसा न हो तो नहीं गिना जाएगा।

इसके साथ ही साथ एक थ्योरी और भी है कि तौहीद भी आज़ादी की तरह ह्युमेन राइट्स में से ही है।

हम ने फ़्रीडम ऑफ़ आइडियॉलोजी के बारे में बात करते हुए कहा था कि राइट ऑफ़ फ़्रीडम का मतलब यह नहीं है कि किसी एक आदमी की आज़ादी को किसी दूसरे की तरफ़ से कोई ख़तरा न हो बल्कि हो सकता है कि ख़ुद उसकी ही तरफ़ से उसके राइट ऑफ़ फ़्रीडम को ख़तरा हो। अब अगर कुछ लोग तौहीद को बचाने और शिर्क को मिटाने के लिए जंग करें तो उनकी जंग भी डिफ़ेंसिव जंग ही कहलाएगी। ऐसी जंग कहीं से कहीं तक किसी पर ज़ुल्म करने, किसी को अपना ग़ुलाम बनाने, किसी को लूटने या किसी पर चढ़ाई करने वाली जंग नहीं कहलाएगी।

यहाँ इस्लामी उलमा के बीच में भी दो तरह की सोच पाई जाती है। कुछ उलमा ने जो बातें कही हैं उनसे यही रिज़ल्ट निकलता है कि तौहीद इन्सानों के समाजी अधिकारों में से है। इसलिए तौहीद को बचाने और तौहीद का डिफ़ेंस करने के लिए जंग जायज़ है क्योंकि यह मानवाधिकारों को बचाना है। यह जंग एक समाज को आज़ादी दिलाने के लिए लड़ी जाने वाली जंग है।

लेकिन कुछ दूसरे उलमा यह कहना चाहते हैं कि तौहीद हर आदमी या समाज का अपना निजी अधिकार है और ह्युमेन राइट्स से इसका कोई रिश्ता नहीं है। इसलिए किसी को भी यह हक़ नहीं पहुँचता कि वह तौहीद के नाम पर या तौहीद के डिफ़ेंस में किसी दूसरे आदमी या समाज पर चढ़ाई कर बैठे।

इन दोनों में कौन सी थ्योरी सही है?

कुछ काम ज़बरदस्ती नहीं कराए जा सकते

अब हम अपनी थ्योरी आपके सामने रखते हैं लेकिन इससे पहले एक बात और कहना है जिसके बाद रिज़ल्ट के हिसाब से यह दोनों थ्योरी शायद एक हो जाएँ। कुछ मामले और कुछ काम ऐसे होते हैं जो ज़बरदस्ती कराए जा सकते हैं लेकिन कुछ काम ऐसे होते हैं जिनमें ज़ोर–ज़बरदस्ती की ही नहीं जा सकती। इन कामों का नेचर ही ऐसा होता है कि यह काम आज़ादी के साथ ही किए जा सकते हैं।

जैसे कहीं कोई बहुत ख़तरनाक बीमारी फैल जाए और सरकारी हुक्म आ जाए कि हर आदमी को टीका लगना है। यह वह काम है जिसमें हर आदमी को टीका लगवाने पर मजबूर किया जा सकता है, चाहे कोई टीका लगवाना न भी चाहे। यहाँ तक कि उसके हाथ–पाँव पकड़कर या बेहोशी की हालत में भी टीका लगाया जा सकता है क्योंकि यह काम हर हाल में करना होगा, नहीं तो समाज में फैली हुई बीमारी को कन्ट्रोल नहीं किया जा सकता।

इसके उलट कुछ चीज़ें और कुछ काम ऐसे हैं जो ज़बरदस्ती नहीं करवाए जा सकते यानी यह काम बस आदमी की अपनी मर्ज़ी और चाहत से ही हो सकते हैं जैसे तज़किय–ए–नफ़्स (Self-Purification) या अच्छी परवरिश।

अगर हम दूसरों को अच्छा आदमी बनाना चाहें और वह भी ऐसे कि वह अच्छाईयों को अच्छाई समझ कर अपनाएँ और बुराईयों को बुराई समझ कर दूर भगाएँ यानी उन्हें झूठ से दिली नफ़रत हो और सच्चाई से दिली मोहब्बत हो तो यह काम तलवार के बल पर नहीं हो सकता।

तलवार या ताक़त के बल पर किसी चोर को चोरी से तो दूर रखा जा सकता है लेकिन किसी के दिल के

अन्दर हमदर्दी या सच्चाई नहीं उतारी जा सकती। अगर ऐसा हो सकता होता तो जिसे अच्छा आदमी बनाना होता उसे ले जाकर सौ कोड़े लगा दिए जाते और वह अच्छा आदमी बन जाता यानी अच्छी परवरिश के लिए फिर किसी और चीज़ की ज़रूरत न होती, बस कोड़े मारते-मारते कहते जाते कि यह आदमी ज़िन्दगी भर कभी झूठ न बोले और इसे झूठ बोलना बुरा लगे। आओ! इसे सौ कोड़े लगा देते हैं और उसके बाद फिर यह कभी झूठ नहीं बोलेगा।

इसी तरह किसी से मोहब्बत करना भी है। किसी को भी कोड़े मारकर किसी दूसरे से मोहब्बत करने पर मजबूर नहीं किया जा सकता और किसी से ज़बरदस्ती मोहब्बत नहीं करवाई जा सकती।

यह सारी वह बातें हैं जिनके बारे में कहा जाता है कि इन में ज़ोर-ज़बरदस्ती, ताक़त या कोड़ों से कुछ नहीं होने वाला। अगर सारी दुनिया की ताक़त इकट्ठी करके किसी के दिल में किसी की मोहब्बत उतारने या किसी के दिल से किसी की मोहब्बत निकालने की कोशिश की जाए तो भी ऐसा कभी नहीं हो सकता।

ईमान लाने या न लाने में भी ज़बरदस्ती नहीं की जा सकती

यहाँ तक आने के बाद अब हम यह बात भी कहना चाहेंगे कि ईमान को चाहे ह्युमेन राइट्स में गिना जाए या न गिना जाए, यह बात तो तय है कि ईमान लाने या न लाने में ज़बरदस्ती नहीं की जा सकती। अगर हम ताक़त के बल पर किसी के दिल में ईमान उतारना भी चाहें तो ख़ुद ईमान की क्वालिटी यह है कि यह ताक़त के बल पर या ज़बरदस्ती किसी के दिल में नहीं उतरता।

ईमान यानी अक़ीदा (Belief) या यक़ीन। ईमान यानी किसी ऑइडियॉलोजी में डूब जाना और किसी थ्योरी को अपना लेना।

किसी भी आइडियॉलोजी को अपनाने और उसमें डूब जाने के लिए दो चीज़ें ज़रूर चाहिएं। एक उस आइडियॉलोजी का साइन्टिफ़िक होना ताकि इन्सान की अक़्ल और समझ उसे मान सके।

दूसरे उसका एहसासात (Feelings) से जुड़ा होना ताकि आदमी का दिल भी उसे अपना ले।

इन दोनों में से कोई भी चीज़ ज़ोर–ज़बरदस्ती या ताक़त के बल पर नहीं कराई जा सकती, न उसका अक़्ल वाला एंग्लि क्योंकि अक़्ल लॉजिक के पीछे–पीछे चलती है। अगर हम किसी बच्चे को मैथ्स का कोई सवाल सिखाना चाहें तो उसे लॉजिक से ही सिखाएँगे ताकि वह उस पर यक़ीन कर ले। कोई भी सवाल किसी को कोड़े मारकर नहीं समझाया जा सकता यानी कोई भी बच्चा मार खाकर किसी सवाल का जवाब नहीं समझ सकता।

एहसास व मोहब्बत का मामला भी ऐसा ही है।

आज़ादी तो ताक़त के बल पर दी जा सकती है लेकिन ईमान और आज़ादी की चाहत नहीं

इसलिए तौहीद [अगर हम इसे ह्युमेन राइट्स में गिनें] और दूसरी चीज़ों जैसे आज़ादी में फ़र्क़ है यानी ताक़त के बल पर आज़ादी तो किसी समाज को दी जा सकती है क्योंकि आज़ादी छीनने वाले को ताक़त से पीछे ढकेला जा सकता है क्योंकि नेचुरल तौर पर इन्सान आज़ाद है। लेकिन उसके अन्दर आज़ादी की चाहत नहीं भरी जा सकती।

इसी तरह ताक़त के बल पर किसी के दिल में किसी चीज़ पर ईमान नहीं भरा जा सकता और न ही ज़बरदस्ती किसी के दिमाग़ में कोई अक़ीदा बिठाया जा सकता है। क़ुरआन की आयत *ला इकराहा फ़िद्दीन* के यही मायनी हैं।

क़ुरआन की इस आयत का मतलब यह बिल्कुल नहीं है कि धर्म ज़बरदस्ती किसी के ऊपर थोपा तो जा सकता है लेकिन तुम किसी पर मत थोपो और लोगों को आज़ाद छोड़ दो ताकि वह बिना किसी ज़बरदस्ती के धर्म को मानें। ऐसा नहीं है बल्कि क़ुरआन यह कहना चाह रहा है कि धर्म एक ऐसी चीज़ है जो ज़बरदस्ती किसी से क़ुबूलवाई ही नहीं जा सकती और ताक़त के बल पर धर्म किसी के दिल में उतारा ही नहीं जा सकता। जो चीज़ ज़बरदस्ती दिल में उतर जाए वह धर्म हो ही नहीं सकता।

अभी नया-नया इस्लाम आया था और अरबों का इस्लाम भी अभी ताज़ा-ताज़ा ही था। अभी वह इस्लाम की गहराई व असलियत भी नहीं समझ पाए थे और अभी इस्लाम उनके दिलों में उतरा भी नहीं था, फिर भी वह दावा कर रहे थेः

قَالَتِ الاَعرَابُ آمَنَّا قُل لَّم تُومِنُواوَ لٰكِن قُولُوا اَسلَمنَا وَلَمَّا يَدخُلِ الاِيمَانُ فِي قُلُوبِكُم[1]

> यह अरब कहते हैं कि हम ईमान ले आए हैं तो आप इनसे कह दीजिए कि तुम ईमान नहीं लाए हो बल्कि यह कहो कि हम इस्लाम लाए हैं क्योंकि अभी ईमान तुम्हारे दिलों में उतरा ही नहीं है।

इस आयत में आया है ''आराब'' ने कहा। क़ुरआन की ज़बान में *आराब* बन्जारों को कहते हैं। बन्जारे आते थे और कहते थे कि हम ईमान ले आए हैं जिस पर

---

[1] सूरए हुजुरात/14

क़ुरआन ने रसूले इस्लाम[स०] से कहा कि इन से कह दीजिए कि तुम ईमान नहीं लाए हो बल्कि कहो कि हम इस्लाम लाए हैं यानी यह कहो कि हम ने अपनी ज़बान से इस्लाम का *कलेमा* पढ़ लिया है। हम ने एक ऐसा काम किया है जिससे हम ज़ाहिर में मुसलमान हैं। इसलिए अब हम भी इस्लामी समाज में गिने जाने लगे हैं और हमें भी वही अधिकार मिल गए हैं जो दूसरे मुसलमानों को मिले हुए हैं लेकिन अभी तुम्हारे दिल में ईमान नहीं उतरा है। अभी ईमान ने तुम्हारे दिलों में जगह नहीं बनाई है। असल में क़ुरआन कहना चाहता है कि ईमान दिल से जुड़ी चीज़ का नाम है।

अपनी बात को साबित करने के लिए हमारे पास दूसरा सुबूत यह है कि इस्लाम में उसूले दीन (Roots of Islam) में *तक़लीद* जायज़ नहीं है। सिर्फ़ रिसर्च करके और समझकर ही उसूले दीन को माना जा सकता है। उसूले दीन, अक़ीदे और ईमान से जुड़ी हुई चीज़ का नाम है। इससे पता चलता है कि इस्लाम का मानना है कि अगर कोई ईमान को क़ुबूल करना चाहता है तो अपनी मर्ज़ी से क़ुबूल करे। थोपा हुआ ईमान इस्लाम का मनपसन्द ईमान हो ही नहीं सकता और ऐसा ईमान दिल में उतर ही नहीं सकता, चाहे वह *तक़लीद* का बन्धन हो या ताक़त के बल पर ऐसा किया जाए या ज़ोर-ज़बरदस्ती से।

अब जब हम ने यह बात समझ ली है तो आइए देखते हैं कि मुसलमान उलमा के वह दो नज़रिए (Theories) क्या हैं जो यहाँ एक-दूसरे के बहुत पास आ जाते हैं।

जैसा कि हम ने पहले भी कहा कि कुछ उलमा का यह मानना है कि तौहीद, ह्युमेन राइट्स में से ही है और जो चीज़ भी ह्युमेन राइट्स में आती है उसका डिफ़ेंस किया जा सकता है। इसलिए तौहीद का भी

डिफ़ेंस किया जा सकता है और इसके लिए भी किसी समाज से जंग की जा सकती है।

कुछ दूसरे उलमा जो कुछ कहते हैं अगर उसे सामने रखें तो उनकी बातों से यह रिज़ल्ट निकलता है कि तौहीद के लिए जंग नहीं की जा सकती बल्कि अगर कोई समाज मुश्रिक हो तो भी उससे जंग नहीं की जा सकती।

जो कुछ अभी तक हम ने कहा उससे यह दोनों नज़रिए एक-दूसरे से काफ़ी मिल सकते हैं क्योंकि अगर हम तौहीद को ह्युमेन राइट्स में से भी मान लें तब भी किसी समाज के ऊपर ज़ोर-ज़बरदस्ती से तौहीद की आइडियॅालोजी को थोपने के लिए जंग नहीं कर सकते क्योंकि यह आइडियॅालोजी किसी पर थोपी ही नहीं जा सकती। हाँ! यह ज़रूर हो सकता है कि हम तौहीद को ह्युमेन राइट्स में ही मानें और यह तौहीद मानवता के फ़ाएदे में भी हो तो फिर तौहीद को फैलाने के लिए किसी मुश्रिक समाज से जंग की जा सकती है लेकिन यह जंग इसलिए नहीं हो रही होगी कि उस समाज पर ज़बरदस्ती तौहीद को थोप दिया जाए या उस समाज को ईमान लाने पर मजबूर कर दिया जाए क्योंकि तौहीद व ईमान को ज़बरदस्ती किसी पर थोपा ही नहीं जा सकता।

हम बुराई को जड़ से उखाड़ फैंकने के लिए मुश्रिकों से जंग कर सकते हैं। ताक़त के बल पर शिर्क की जड़ों को काट देना एक अलग चीज़ है और ज़बरदस्ती किसी समाज के ऊपर तौहीद को थोपना एक अलग चीज़ है यानी यह दोनों अलग-अलग बातें हैं।

जो लोग तौहीद को निजी अधिकार या बहुत से बहुत समाजी अधिकार समझते है उनके हिसाब से यह जंग जायज़ नहीं है। युरोप वालों में से बहुत सों का यही मानना है जिसे हमारे बीच भी बहुत से लोगों ने मान लिया है।

युरोप वालों की नज़र में इस तरह के मामले निजी और आम ज़िन्दगी के बड़े हल्के–फुल्के मामले हैं। वह लोग इन मामलों को क़रीब–क़रीब रस्मों (Traditions) जैसा मानते हैं जिन्हें कोई भी समाज अपना सकता है। इसलिए अगर किसी बुराई की जड़ काटना हो तब भी हम [उनके हिसाब से] शिर्क को मिटाने के लिए जंग नहीं कर सकते क्योंकि शिर्क तो बुराई है ही नहीं और वैसे भी तौहीद एक निजी मामला है।

इस्लाम का मैसेज फैलाने के लिए जंग

अब हम एक दूसरी बात शुरू करते हैं और वह यह कि क्या इस्लाम का मैसेज फैलाने की आज़ादी के लिए जंग करना जायज़ है कि नहीं?

इस्लाम का मैसज फैलाने के लिए आज़ादी का क्या मतलब है?

इसका मतलब यह है कि हमें इस बात की खुली आज़ादी होना चाहिए कि जिस समाज में भी चाहें अपने अक़ीदे (Beliefs) को आज़ादी के साथ लोगों के सामने रख सकें। वैसे लोगों के सामने रखने का मतलब यह नहीं है कि हम इस्लाम का प्रोपेगण्डा करना चाहते हैं बल्कि हम चाहते हैं कि अपनी आइडियॉलोजी दुनिया वालों के सामने रखें। चाहे हम आज़ादी को ह्युमेन राइट्स में गिनें या तौहीद को या दोनों को, तीनों शक्लों में यह काम जायज़ है।

अब अगर हमारे मैसेज के आगे बढ़ने में कोई रूकावट पैदा हो जाए जैसे हम देखें कि कोई हुकूमत हमारे मैसेज को आगे नहीं बढ़ने दे रही है और कह रही है कि हम आपको अपनी जनता की सोच ख़राब करने की छूट नहीं दे सकते तो फिर क्या होगा।

यह तो हम सभी जानते हैं कि हुकूमतें जनता की उस सोच को ख़राब मानती हैं जो अगर जनता में पैदा हो जाए तो फिर लोग हुकूमत की बात नहीं मानते।

सवाल यह है कि वह हुकूमतें जो लोगों के बीच किसी मैसेज के पहुँचने में रूकावट हैं क्या उन हुकमतों को जड़ से उखाड़ फैंकने और मैसेज के आगे बढ़ने में रूकावटों को हटाने के लिए जंग जायज़ है या नहीं?

बिल्कुल! यह जंग भी जायज़ है। यह भी डिफ़ेंसिव जंग है। यह भी उन्हीं जिहादों में से है जिन जिहादों के अन्दर डिफ़ेंस वाला फ़ैक्टर पाया जाता है।

निजी और समाजी अधिकारों की कसौटी

यहाँ तक हम ने जिहाद के बारे में अच्छी-ख़ासी बात कर ली है। अब बस एक इश्यु रह गया है और वह यह कि क्या तौहीद ह्युमेन राइट्स में से है या यह लोगों का निजी अधिकार है या बहुत से बहुत यह एक समाजी अधिकार है?

यहाँ हमें यह देखना होगा कि समाजी ह्युमेन राइट्स और निजी ह्युमेन राइट्स की कसौटी क्या है? समाज में रहने वाले लोग कुछ बातों में एक जैसे होते हैं। इस दुनिया में रहने वाले सब लोगों में बहुत सी बातें एक जैसी हैं और बहुत सी बातों में यह लोग अलग-अलग हैं। लोगों में फ़र्क़ इतना ज़्यादा है कि ऐसे दो आदमी भी नहीं ढूँढे जा सकते जो पूरी तरह से एक जैसे हों। जैसे दो आदमी अपने जिस्म और चेहरे-मोहरे के हिसाब से एक जैसे नहीं हो सकते वैसे ही रूह[1] और रूह से जुड़ी चीज़ों के हिसाब से भी दो लोग पूरी तरह से एक जैसे नहीं हो सकते।

---

[1] आत्मा

वह चीज़ें जो सारे इन्सानों से जुड़ी हुई हैं वह उनके समाजी अधिकार हैं जैसे आज़ादी यानी आदमी के हर तरह से फलने-फूलने और निखरने में कोई रूकावट न आने पाए, ज़ाहिर है कि यह चीज़ दुनिया के हर आदमी का अधिकार है। आज़ादी हमारे लिए भी उतनी ही बड़ी चीज़ है जितनी आपके लिए और आपके लिए भी उतनी ही बड़ी है जितनी दूसरों के लिए लेकिन हम लोग बहुत सारी चीज़ों में एक-दूसरे से बिल्कुल अलग-अलग हैं जिसे अपनी आम बोलचाल में हम रख-रखाव या स्टाइल कहते हैं क्योंकि यह हर आदमी का अपना निजी मामला है।

जैसे हमारा रँग और हमारा चेहरा-मोहरा एक-दूसरे से अलग होता है वैसे ही हमारा रँग-ढँग, चाल-चलन और पसन्द-नापसन्द भी अलग-अलग होती है। हमें एक अलग रँग का कपड़ा पसन्द है और आपको एक अलग रँग का, हमें अलग तरह का सिला हुआ कपड़ा पसन्द है और आपको दूसरी तरह का, हमें एक अलग शहर में रहना पसन्द है और आपको किसी दूसरे शहर में, हमें एक जगह अच्छी लगती है और आपको कोई दूसरी जगह, हमें अपना कमरा एक अलग तरह से सजाना अच्छा लगता है और आपको एक दूसरी तरह से, हम अपने लिए कोई कॅरियर चुनते हैं और आप कोई और... यह सब निजी मामले हैं। निजी मामलों में किसी को भी रोकटोक करने का हक़ नहीं है। इसीलिए किसी को भी यह हक़ नहीं पहुँचता कि वह किसी को किसी का जीवन-साथी चुनने पर मजबूर करे क्योंकि जीवन-साथी चुनना भी पूरी तरह से एक निजी मामला है। इस्लाम भी यही कहता है कि जिसको जिससे शादी करना हो कर सकता है और इस मामले में कोई उसे रोक भी नहीं सकता क्योंकि यह आदमी का निजी मामला है।

अब आते हैं तौहीद और ईमान की तरफ़। युरोप वाले कहते हैं कि तौहीद और ईमान के मामले में भी

किसी को बोलने का अधिकार नहीं है। वह ऐसा इसीलिए कहते हैं क्योंकि उनका मानना है कि यह भी आदमी का निजी मामला है बिल्कुल कपड़े के रँग या दूसरी किसी पसन्द- नापसन्द की तरह। उनका मानना है कि आदमी अपनी ज़िन्दगी में एक चीज़ में लग जाता है जिसका नाम ईमान है और यह बिल्कुल शायरी की तरह है जैसे किसी को शैक्सपियर पसन्द है तो किसी को मौलाना रूम, किसी को मिल्टन पसन्द है तो किसी को फ़िरदौसी। अब कोई किसी से यह नहीं कह सकता कि मुझे तो शैक्सपियर पसन्द है, फिर तुम्हें मिल्टन क्यों पसन्द है? मुझे तो शैक्सपियर पसन्द है, फिर आपको भी शैक्सपियर ही पसन्द होना चाहिए।

वह लोग कहते हैं कि धर्म भी इसी तरह की चीज़ है। किसी को इस्लाम पसन्द है, किसी को ईसाई धर्म तो किसी को यहूदी धर्म और कोई इन में से किसी को भी नहीं मानता। इस मामले में कोई किसी को नहीं टोक सकता।

युरोप वालों के हिसाब से धर्म और धर्म से जुड़ी बातें इन्सान की ज़िन्दगी की असली ज़रूरत नहीं है। असल में धर्म के बारे में उनकी सोच और हमारी सोच में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है। अगर धर्म उनके धर्म की तरह होगा तो उसे ऐसा होना ही चाहिए लेकिन हमारे हिसाब से होगा तो धर्म यानी सिराते मुस्तक़ीम यानी सीधा रास्ता।

अगर कोई धर्म के बारे में न्युट्रल सोच बना लेगा तो फिर मानवता के मामले में अपने आप उसकी सोच न्युट्रल बन जाएगी। जबकि हमारा कहना यह है कि तौहीद इन्सान की कामयाबी व सआदत (Perfection) से सीधे तौर पर जुड़ी हुई है। तौहीद कहीं से कहीं तक आदमी का निजी मामला नहीं है कि हम कहें कि क्या फ़र्क़ पड़ता है, हमें यह रँग अच्छा लगता है और उसे

वह रँग पसन्द है। तौहीद इस समाज या उस समाज का मामला नहीं है।

इसलिए सही बात उन्हीं लोगों की है जो तौहीद को ह्युमेन राइट्स में गिनते हैं। अगर हम भी कहते हैं कि किसी समाज पर तौहीद को ज़बरदस्ती थोपने के लिए जंग नहीं की जा सकती तो इसका मतलब यह नहीं है कि हम यह कहना चाहते हों कि तौहीद के लिए जंग की ही नहीं जा सकती और न ही हम यह कहना चाहते हैं कि तौहीद ह्युमेन राइट्स में से नहीं है बल्कि हम यह कहना चाहते हैं कि तौहीद है ही ऐसी चीज़ जो ज़बरदस्ती किसी के दिल में नहीं उतारी जा सकती जिसका ऐलान क़ुरआन ने भी कर दिया है कि *ला इकराहा फ़िद्दीन* यानी इस्लाम में ज़बरदस्ती नहीं है। वरना सच्ची बात तो यही है कि तौहीद ह्युमेन राइट्स में से ही है क्योंकि यह सब का अधिकार है।

फ़्रीडम ऑफ़ थॉट्स या फ़्रीडम ऑफ़ बिलीफ़

(Freedom of Thoughts or Freedom of Beliefs)

फ़्रीडम ऑफ़ थॉट्स और फ़्रीडम ऑफ़ बिलीफ़ के बीच फ़र्क़ है। इन्सान के अन्दर एक ताक़त पाई जाती है जिसे सोचने-समझने की ताक़त या लॉजिक कहते है जिसके बल पर आदमी चीज़ों को देखता है, समझता है और अपने लिए जो अच्छा होता है चुन लेता है लेकिन अक़ीदा व आइडियॉलोजी यानी ''बंधन''। बहुत से ऐसे अक़ीदे भी हैं जिनकी बुनियाद बस अन्धी *तक़लीद* पर रखी होती है, आदत पर होती है और जो बस देखा-देखी बन जाते हैं। बल्कि हो सकता है कि ह्युमेन राइट्स से भी टकरा जाएँ।

हम जिस आज़ादी की बात कर रहे हैं कि वह सोचने-समझने की आज़ादी है लेकिन ऐसा अक़ीदा या

आस्था जो न सोचकर बनी हो और न समझकर तो वह पूरी तरह से ज़न्जीरों में जकड़ा होना है जो पीढ़ी-पीढ़ी चली आ रही ग़ुलामी है। इस तरह की आस्थाओं से जंग करके इन्सान को आज़ादी दिलाना पूरी तरह से इन्सान की आज़ादी की जंग है, न कि इन्सानों की आज़ादी को छीनना।

आदमी अपने ही हाथों से बनाए ख़ुदाओं के सामने अपना सर झुकाता है, उसकी पूजा करता है और उससे दुआएँ भी माँगता है जिसके लिए क़ुरआन ने खुल्लम-खुल्ला कहा है कि जो आदमी भी यह काम करे वह जानवर जैसा है यानी ऐसे आदमी की आस्था के पीछे कहीं से कहीं तक सोचने-समझने की ज़रा सी ताक़त भी नहीं होती। अगर वह ज़रा सा भी ध्यान दे ले और बस थोड़ी सी ही समझदारी से काम ले ले तो फ़ौरन इस काम को छोड़ देगा। ऐसे आदमी का दिल और उसकी आत्मा बेकार हो गई है जिसने काम करना बन्द कर दिया है जिसकी वजह से दूसरों की देखा-देखी अपनी आँखें बन्द करके उन झूठे ख़ुदाओं के आगे सर झुकाए चला जा रहा है।

आस्थाओं की ज़न्जीरों में जकड़े हुए ऐसे आदमी के दिल को तो ज़बरदस्ती आज़ाद कराया जाना चाहिए ताकि वह कुछ सोच-समझ तो सके।

इसलिए जो लोग अन्धी *तक़लीद* और ज़न्जीरों में जकड़े हुए दिल को फ़्रीडम ऑफ़ बिलीफ़ या अक़ीदे की आज़ादी का नाम देते हैं वह भयानक ग़लती कर रहे होते हैं।

अगर हम क़ुरआन की आयत *ला इकराहा फ़िद्दीन* [इस्लाम में ज़बरदस्ती नहीं है] की बात करते हैं तो हम फ़्रीडम ऑफ़ थॉट्स की बात करते हैं, न कि फ़्रीडम ऑफ़ बिलीफ़ की।

(4)

قَاتِلُوا الَّذِينَ لَا يُومِنُونَ بِاللهِ وَلَا بِاليَومِ الآخِرِ وَلَا يُحَرِّمُونَ مَا حَرَّمَ اللهُ وَرَسُولُہ
وَ لَا يَدِينُونَ دِينَ الحَقِّ مِنَ الَّذِينَ اُوتُوالكِتَابَ حَتّٰى يُعطُوا الجِزيَۃَ عَن يَدٍوَهُم
صَاغِرُونَ[1]

---

[1] सूरए तौबा/29

> उन लोगों से जिहाद करो जो अल्लाह और क़यामत पर ईमान नहीं रखते और जिस चीज़ को अल्लाह और उसके रसूल ने हराम बताया है उसे हराम नहीं समझते और *अहले किताब* होते हुए भी दीने हक़ (अल्लाह के भेजे हुए धर्म) पर नहीं चलते... यहाँ तक कि तुम्हारे सामने अपना सर झुका दें और अपने हाथों से जिज़्या[1] देने पर तैयार हो जाएँ।

शुरू में हम ने कहा था कि क़ुरआन की कुछ आयतें *अन्कंडीश्नल* हैं और कुछ आयतें *कंडीश्नल*। *अन्कंडीश्नल* आयतें वह हैं जिनमें *अहले किताब* या मुश्रिकों[2] से जिहाद करने के लिए कोई शर्त नहीं है। *कंडीश्नल* आयतें वह हैं जिनमें जिहाद के लिए कुछ शर्तें लगी हुई हैं जैसे अगर वह तुम से जंग कर रहे हों या उन्होंने जंग जैसे हालात बना दिए हों या तुम्हें उनकी तरफ़ से जंग का ख़तरा हो या तुम्हारे पास ऐसे सुबूत हों जिनसे यह साबित होता हो वह जंग करना चाह रहे हैं तो तुम भी जंग के लिए उठ खड़े हो।

अब हम क्या करें? *अन्कंडीश्नल* आयतों की बात मानें या *कंडीश्नल* आयतों पर चलें?

हम यह भी बता चुके हैं कि उलमा का मानना है कि *अन्कंडीश्नल* व *कंडीश्नल* के बीच आपस में कोई टकराव नहीं होता है। जब टकराव ही नहीं होता तो फिर इस बात का भी सवाल नहीं उठता कि इन आयतों पर चलें या उन आयतों पर।

इस सवाल का जवाब यह है कि अगर हमारे सामने *अन्कंडीश्नल* आयत भी हो और *कंडीश्नल* आयत भी तो

---

[1] जिज़्ये पर हम आगे चलकर बात करेंगे

[2] मुश्रिक उन लोगों को कहते हैं जो न इस्लाम को मानते हैं और न किसी दूसरे आसमानी धर्म को। यह लोग ख़ुदा को मानते तो हैं लेकिन ख़ुदा की ख़ुदाई में दूसरों को भी उसका भागीदार मानते हैं।

हमें *कंडीश्नल* आयत को *अन्कंडीश्नल* आयत की तश्रीह (Explanation) के तौर पर लेना चाहिए।

इसका मतलब यह हुआ कि जिहाद के बारे में क़ुरआन में जितनी आयतें हैं हम उनसे वही हुक्म निकालेंगे जो *कंडीश्नल* आयतें बता रही हैं यानी क़ुरआन ने बिना किसी शर्त के यूँ ही हर हाल में जंग वाजिब नहीं कर दी है। दूसरे शब्दों में यूँ कहा जाए कि इस्लाम में जिहाद कुछ ख़ास हालात में वाजिब होता है।

इस पर एक दूसरी तरह से हम पहले भी बात कर चुके हैं।

क्या क़ुरआन की जिहाद वाली आयतें *नासिख़* (Abrogating) व *मन्सूख़*[1] (Abrogated) हैं?

कुछ उलमा ने जिहाद से जुड़ी आयतों में *नासिख़* और *मन्सूख़* (Abrogating Verses and Abrogated Verses) की बात भी छेड़ दी है। उनका कहना है कि हम ने माना कि क़ुरआन की बहुत सी आयतों में मुश्रिकों के साथ जंग करने के लिए शर्तें लगी हुई हैं लेकिन कुछ दूसरी आयतों ने जिहाद के बारे में पिछली आयतों का हर हुक्म रद्द कर दिया है। इसलिए यहाँ *नासिख़* और *मन्सूख़* का चैप्टर खुल जाता है।

सूरए तौबा के शुरू में जिहाद वाली आयतों में मुश्रिकों से दूरी का हुक्म दिया गया है और उन्हें कुछ

---

[1] नासिख़ व मन्सूख़ क़ुरआन का वह फ़ार्मूला है जो पिछले हुक्म को रद्द कर देता है और ऐसा बस अल्लाह के रसूल[स०] के दौर में ही होता था क्योंकि इस्लाम की सारी शरीअत (Islamic Law) अभी उतरी नहीं थी और इस्लामी अहकाम (क़ानून) में बदलाव किया जा सकता था लेकिन जब सारी इस्लामी शरीअत आ गई तो नासिख़ व मन्सूख़ का सिलसिला भी सिरे से थम गया। नासिख़ पिछले हुक्म को रद्द करने वाली आयत को कहते हैं और मन्सूख़ उस आयत को कहते हैं जिसका हुक्म रद्द हो जाता है।

दिनों की छूट दी गई है और छूट के ख़त्म होने के बाद आयतें कहती हैं कि अब उन्हें ज़िन्दा रहने का हक़ नहीं है, उन्हें क़त्ल कर दो, उन्हें घेर लो और उनकी घात में बैठ जाओ। यह आयतें 9वीं हिजरी में उतरी थीं और इन आयतों ने पिछली सारी आयतों को रद्द कर दिया था।

क्या यह थ्योरी सही है?

नहीं! यह बिल्कुल ग़लत थ्योरी है।

इसके ग़लत होने का सुबूत क्या है?

इस थ्योरी के ग़लत होने के लिए दो बातें ही काफ़ी हैं। एक यह कि हम बस तभी किसी आयत को दूसरी आयत को रद्द करने वाली आयत कह सकते हैं जब रद्द करने वाली आयत उस आयत के पूरी तरह से उलट हो। जैसे मान लीजिए कि एक आयत कहती है कि मुश्रिकों से किसी भी हाल में जंग मत करो। फिर एक दूसरी आयत आती है और वह कहती है कि अब इसके बाद उनसे जंग करो। इन दोनों आयतों के मायनी यह हुए कि जो हुक्म पहली आयत ने दिया था उस हुक्म को दूसरी आयत ने रद्द कर दिया है और उसकी जगह एक दूसरा हुक्म आ गया है।

नासिख़ और *मन्सूख़* का मतलब ही यह होता है कि पहला वाला हुक्म रद्द हो जाए और उसकी जगह एक दूसरा हुक्म आ जाए। इसलिए दूसरे वाले हुक्म को पहले वाले हुक्म से 100% उलटा होना चाहिए ताकि पिछले वाले हुक्म को रद्द समझा जा सके लेकिन अगर दूसरा हुक्म और पहला हुक्म एक-दूसरे के साथ इकट्ठे हो सकते हों यानी उनमें से एक, दूसरे को बयान करने वाला हो तो यहाँ *नासिख़* और *मन्सूख़* की बात ही नहीं उठ सकती और फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि एक हुक्म दूसरे हुक्म को रद्द कर रहा है।

सूरए तौबा की आयतें ऐसी नहीं हैं कि हम कहें कि इन आयतों ने पिछली आयतों को रद्द कर दिया है और जिहाद के साथ शर्तें लगा दी हैं।

क्यों ?

इसलिए कि इसी सूरए तौबा में इन सारी आयतों पर जब हम एक साथ नज़र डालते हैं तो यह आयतें यह कहती दिखाई पड़ती हैं कि इन मुश्रिकों से जंग करो क्योंकि यह लोग किसी क़ायदे-क़ानून या अपने वादे की पाबन्दी नहीं करते जबकि अपने वादे पर टिके रहना एक नेचुरल चीज़ है, यहाँ तक कि एक ऐसा समाज भी इस बात को समझता है जिसके पास कोई क़ानून नहीं होता लेकिन यह मुश्रिक अपने किसी वादे पर नहीं टिकते और अपने हर वादे से पीछे हट जाते हैं। इनके साथ अगर कोई समझौता भी करो तो यह छूट मिलते ही समझौते को तोड़ देते हैं। इन्हें जैसे ही कोई मौक़ा मिलता है तो यह फ़ौरन तुम्हें मिटाने और बर्बाद करने के लिए मैदान में कूद पड़ते हैं।

अब यहाँ पर हमारी अक़्ल और समझ क्या कहती है ?

अक़्ल कहती है कि अगर किसी क़ौम के बारे में हमें ऐसे सुबूत मिलें कि वह छूट मिलते ही हमें मिटा देने पर तुली बैठी है तो क्या हम कहेंगे कि अभी रूको! पहले वह लोग हमें मिटा दें, उसके बाद हम उन्हें ख़त्म करेंगे।

नहीं! ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि अगर हम उनके हमले का मुँह देखते रहेंगे तो वह हमें जड़ से मिटा देंगे।

आज भी दुनिया में ऐसे हमले को कोई बुरा नहीं कहता जो उन पक्के सुबूतों को सामने रखकर किया जाए जिनके हिसाब से हमला करने वाले पर यह बात साबित हो गई हो कि सामने वाला हमले की तैयारी कर रहा है। इसलिए अगर वह पहल करके अपने ऊपर होने वाले हमले को रोक दे तो सब कहते हैं कि यह हमला सही भी है और जायज़ भी। कोई नहीं कहता कि ठीक

है कि तुम जानते थे और तुम तक उसकी तरफ़ से होने वाले हमले की पक्की ख़बर पहुँच गई थी लेकिन तुम्हें उस पर हमला करने का हक़ बिल्कुल नहीं था। पहले उसे हमला करने देते और अगर वह हमला करता तो तुम उसके बाद उसके हमले का जवाब देते।

जिहाद के बारे में क़ुरआन की सब से सख़्त आयतें सूरए तौबा में हैं जिनमें अल्लाह फ़रमाता हैः

كَيفَ وَ اِن يَّظهَرُوا عَلَيكُم لَا يَرقُبُوا فِيكُم اِلَّا وَلَا ذِمَّةً يُرضُونَكُم بِاَفوَاهِهِم وَتَابٰى قُلُوبُهُم[1]

> उन्हें कैसे छूट दी जाए जबकि अगर यह तुम पर कन्ट्रोल पा लें तो फिर न यह तुम्हारे पड़ोस का ध्यान रखेंगे और न किसी रिश्ते का ध्यान रखेंगे और न कोई वादा या समझौता इन्हें याद रहेगा। यह तो तुम्हें बस ज़बानी ख़ुश कर रहे हैं वरना इनका दिल राज़ी नहीं है।

क़ुरआन कह रहा है कि अगर इन्हें छूट मिल जाए तो फिर इन्हें कोई वादा या समझौता याद नहीं रहेगा। यह बस ज़बानी बातें करते हैं वरना इनके दिल काले हैं।

इसलिए यह आयतें उतनी भी *अन्कंडीश्नल* नहीं हैं जितना आप सोच रहे हैं। असल में यह आयतें यह कह रही हैं कि अगर तुम्हें दुश्मन की तरफ़ से ख़तरा दिखाई पड़ रहा हो तो फिर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना और देर करना ग़लत है।

इसलिए यह आयतें जिहाद के बारे में दूसरी आयतों के 100% उलट नहीं हैं और जब ऐसा नहीं है तो हम नहीं कह सकते कि यह आयतें *नासिख़* (Abrogating Verses) हैं।

यह इन आयतों के *नासिख़* न होने का एक और सुबूत है।

---

[1] सूरए तौबा/8

ह्युमेन वेल्युज़ का डिफ़ेंस

यहाँ तक आने के बाद अब हम कह सकते हैं कि क़ुरआन जिहाद को बस एक तरह डिफ़ेंस समझता है और सिर्फ़ उसी वक़्त जिहाद की छूट देता है जब किसी पर ज़ुल्म हुआ हो या किसी हक़दार का हक़ छिना हो। लेकिन हम ने इस से पहले भी कहा था कि ह्युमेन वेल्युज़ का डिफ़ेंस करने और इन्हें बचाने के लिए होने वाले जिहाद को बुरा नहीं कहा जा सकता, चाहे ह्युमेन वेल्युज़ को कोई ख़तरा न भी हो। साथ में यह भी कहा था कि अटैक या हमला एक आम चीज़ है यानी ज़रूरी नहीं है कि आदमी की जान पर ही हमला किया जाए, ज़रूरी नहीं है कि उसकी ज़मीन पर हमला किया जाए, ज़रूरी नहीं है कि उसकी इज़्ज़त पर हमला किया जाए या ज़रूरी नहीं है कि उसके माल पर ही हमला किया जाए, यहाँ तक कि ज़रूरी नहीं है उसकी आज़ादी छिने तो इसी को हमला कहा जाएगा बल्कि अगर कोई ह्युमेन वेल्युज़ पर हमला करे तब भी इसे हमला ही कहा जाएगा।

आइए! यह आसान सी मिसाल देखते हैं।ः

आज बहुत सी बीमारियों को जड़ से मिटाने के लिए बहुत बड़े पैमाने पर कोशिशें की जा रही हैं। अभी तक कुछ बीमारियों जैसे केंसर की असली वजह का पता नहीं लग सका है जिसकी वजह से इसका सही से इलाज भी नहीं खोजा जा सका है लेकिन ऐसी कुछ दवाईयाँ खोज ली गई हैं जिनसे इस तरह के मरीज़ों को कुछ दिन तक बचाया जा सकता है। अब अगर कोई मेडिकल इंस्टिट्यूट किसी ऐसी बीमारी का इलाज ढूँढ ले तो फिर ऐसे सारे इंस्टिट्यूट और दवाईयों की फ़ैक्टरियाँ बहुत बड़े घाटे में आ जाएँगी जो इन बीमारियों से फ़ाएदा उठाती है। हो सकता है कि इन सब को अरबों–खरबों का नुक़सान भी हो जाए। यह लोग अपनी मार्केट को ख़राब होने से

बचाने के लिए कोशिश करते हैं कि ऐसी दवाईयाँ मार्केट में आने ही न पाएँ जिसके लिए यह उन लोगों को भी मार डालते हैं जो ऐसी दवाईयाँ या फ़ार्मूले तैयार करते हैं ताकि कोई जान ही न सके कि ऐसी भी कोई दवाई बन गई है।

अब क्या आम आदमियों के फ़ाएदे में किसी इतनी अच्छी चीज़ का डिफ़ेंस किया जाना चाहिए या नहीं? किसी ऐसी चीज़ को बचाया जाना चाहिए या नहीं?

क्या हम कह सकते हैं कि किसी ने हमारी जान या हमारे माल पर तो हमला नहीं किया है, हमारी इज़्ज़त, हमारी आज़ादी या हमारी ज़मीन तो ख़तरे में नहीं है, तो फिर हम क्यों किसी चीज़ को बचाने के लिए उसका डिफ़ेंस करें? दुनिया के किसी कोने में कोई बड़े मियाँ हैं जिन्होंने कोई दवाई तैयार की है जिन्हें कुछ लोग ख़त्म करना चाहते हैं, इससे हमें क्या मतलब?

नहीं! यह ''हम से क्या मतलब'' कहने की जगह नहीं है। यहाँ एक ह्युमेन वेल्यु ख़तरे में है, एक ह्युमेन वेल्यु पर हमला किया गया है। अगर हम इस ह्युमेन वेल्यु को बचाने के लिए जंग करें तो क्या यह ग़लत होगा? बिल्कुल नहीं! यह कहीं से कहीं तक ग़लत नहीं होगा बल्कि हम ने आम इन्सानों पर होने वाले ज़ुल्म से जंग की है। हम ने आम इन्सानों को बचाने के लिए जंग की है।

इसलिए हम जो कहते हैं कि जिहाद यानी डिफ़ेंस तो इससे हमारा मतलब वही बंधे-बंधाऐ मायनी नहीं हैं कि अगर आप पर कोई तलवार, तोप या दूसरे हथियारों से हमला कर दे तो तभी आप अपना डिफ़ेंस कीजिए और अपने आप को बचाइए। नहीं! ऐसा बिल्कुल नहीं है। बल्कि अगर आपकी आम ज़िन्दगी की किसी भी बड़ी चीज़ या आपकी किसी भी ह्युमेन वेल्यु, यहाँ तक की इन्सानों से जुड़ी किसी भी ऐसी चीज़ पर हमला हो जाए जो आम आदमियों के लिए फ़ाएदेमन्द हो और उन्हें आगे

ले जा सकती हो तो आप ऐसी हर चीज़ का डिफ़ेंस कीजिए।

अब हम वापस तौहीद की तरफ़ आते हैं।

सवाल यह है कि क्या तौहीद हर इन्सान का अपना निजी मामला है जैसे रँग या कपड़ों के बारे में उसकी पसन्द-नापसन्द या यह ह्युमेन वेल्युज़ से जुड़ी चीज़ है। अगर यह ह्युमेन वेल्युज़ में से है तो इसका डिफ़ेंस करना चाहिए और इसे बचाने के लिए कोशिश की जाना चाहिए। अब अगर किसी क़ानून में कहा गया हो कि ह्युमेन वेल्यु की वजह से तौहीद का डिफ़ेंस करना चाहिए तो इसका मतलब यह बिल्कुल नहीं है कि किसी पर हमला करना जायज़ है बल्कि इसका मतलब यह है कि तौहीद एक ह्युमेन वेल्यु है और डिफ़ेंस (जिहाद) का दायरा भी इतना बड़ा है कि जो इस तरह की ह्युमेन वेल्यु को अपने अन्दर अपने आप समेट लेता है।

आइए! जो बात हम पहले कह चुके हैं उसे एक बार फिर दोहराते हैं। इस्लाम यह नहीं कहता है कि तौहीद को दूसरों पर थोपने के लिए जंग करो क्योंकि तौहीद एक ऐसी चीज़ है जो किसी पर थोपी ही नहीं जा सकती और न ही ज़ोर-ज़बरदस्ती या ताक़त के बल पर किसी के दिल में उतारी जा सकती है क्योंकि तौहीद ईमान है और ईमान को सोच-समझकर ही अपनाया जा सकता है। सोचने-समझने में ज़बरदस्ती नहीं की जा सकती, इसलिए ईमान जैसी चीज़ों के चुनाव में भी ज़बरदस्ती नहीं की जा सकती। *ला इकराहा फ़िद्दीन* यानी किसी को मजबूर मत करो। इसका मतलब यह है कि ईमान के चुनाव में किसी को मजबूर नहीं किया जा सकता। लेकिन *ला इकराहा फ़िद्दीन* का मतलब यह भी नहीं है कि तौहीद के क़िले का डिफ़ेंस भी मत कीजिए। इसका मतलब यह नहीं है कि अगर आप देखें कि कुछ लोगों से *ला इलाहा इल्लल-लाह* को ख़तरा है तो आप तौहीद को इस ख़तरे से ही न बचाएँ।

फ़्रीडम ऑफ़ थॉट्स या फ़्रीडम ऑफ़ बिलीफ़

(Freedom of Thoughts or Freedom of Belief)

धर्म को लोगों के ऊपर नहीं थोपना चाहिए और लोग अपना धर्म चुनने में आज़ाद हैं, यह दोनों बातें बिल्कुल अलग-अलग हैं। साथ ही एक चीज़ और भी है जिसका नाम है अक़ीदा (Beliefs) जिसे आज की ज़बान में कहते हैं फ़्रीडम ऑफ़ बिलीफ़ यानी अक़ीदा आज़ाद है। दूसरे शब्दों में यूँ कहा जाए कि सोचना व चुनना एक अलग चीज़ है और *अक़ीदा* आज़ाद है एक अलग चीज़ है।

बहुत से अक़ीदों और आस्थाओं के पीछे कोई न कोई लॉजिकल एप्रोच ज़रूर होती है और इन्सान अपने बहुत से अक़ीदे जानकर, पहचानकर और समझकर बनाता है लेकिन क्या इन्सान का हर अक़ीदा, हर धार्मिक सोच और हर आस्था के पीछे कोई न कोई लॉजिकल एप्रोच होती है? या इन्सान के बहुत सारे अक़ीदे बस उसकी अन्धी *तक़लीद* की वजह से भी बन जाते हैं और उसकी बहुत सारी आस्थाओं के पीछे कोई लॉजिकल एप्रोच नहीं होती।

क़ुरआन करीम ने अन्धी *तक़लीद* के बारे में कहा हैः

اِنَّا وَجَدنَا آبَاءَنَا عَلیٰ اُمَّۃٍ وَاِنَّا عَلیٰٓ آثَارِھِم مُقتَدُونَ[1]

> हम ने अपने बाप-दादा को एक तरीक़े पर देखा है और हम उन्हीं के रास्ते पर चलने वाले हैं।

क़ुरआन करीम ने इस मामले पर बहुत ज़ोर दिया है।

बहुत से अक़ीदे (Beliefs) बुज़ुर्गों के रास्ते पर चलने की वजह से भी बन जाते हैं। सच्ची बात यह है कि यहाँ फ़्रीडम ऑफ़ बिलीफ़ की कोई जगह बनती ही नहीं

---

[1] सूरए ज़ुख़रूफ़/23

है क्योंकि आज़ादी का मतलब होता है एक एक्टिव और आगे बढ़ने वाली ताक़त के रास्ते में आने वाली रूकावटों को दूर करना लेकिन इस तरह के अक़ीदे या आस्थाएँ तो एक तरह का ठहराव (Stagnation) और रूढ़ीवाद है।

किसी ठहराव के लिए आज़ादी या बेतुकी आस्थाओं के लिए आज़ादी, एक क़ैदी के जेल में रहने और एक ज़न्जीर में जकड़े इन्सान के यूँ ही बंधे रहने की आज़ादी के बराबर जैसी है। बस फ़र्क़ यह है कि जेल में बन्द या ज़न्जीरों में जकड़ा हुआ आदमी अपनी इस हालत का एहसास कर लेता है लेकिन इन्सान की आत्मा अपनी क़ैद और ज़न्जीरों में जकड़े होने का एहसास नहीं कर पाती। यही वजह है जो हम कहते हैं कि अक़ीदे या आस्था की ऐसी आज़ादी बिल्कुल बेकार है जिसके पीछे सोच–समझ और लॉजिक न हो क्योंकि यह तो दूसरों की देखा–देखी अन्धी *तक़लीद* है।

जिज़्या

एक और इश्यु जिस पर आख़िर में बात करना ज़रूरी है वह ''जिज़्या'' है।

जिज़्ये के बारे में क़ुरआन करीम में है कि *अहले किताब* –सारे *अहले किताब* या उनमें से वह जिनका ईमान सच्चा नहीं है– के साथ तब तक जंग करो जब तक वह *जिज़्या* देने पर तैयार न हो जाएँ।

जिज़्या क्या है?

क्या *जिज़्या* टैक्स देने या लेने को कहते हैं?

पिछले दौर में मुसलमान जो *जिज़्या* लेते थे क्या वह जबरन वसूली (Extortion) थी?

जबरन वसूली जिस रूप में भी हो ज़ुल्म है और ख़ुद क़ुरआन करीम हर तरह के ज़ुल्म को बुरा कहता है।

अरबी में *जिज़्ये* का फ़ैमिली रूट 'जज़ा' है और जज़ा शब्द 'बदले' के मायनी में भी इस्तेमाल होता है और सज़ा के मायनी में भी। अगर यहाँ सज़ा के मायनी में हो तो फिर कहा जा सकता है कि इसका मतलब जबरन वसूली है लेकिन अगर इसका मतलब 'बदला' हो –और ऐसा ही है– तो फिर बात दूसरी है।

कुछ लोग कहते हैं कि *जिज़्या* अरबी शब्द नहीं है बल्कि असल में यह फ़ारसी शब्द है और यह हर आदमी से लिया जाने वाला वह टैक्स है जिसे सब से पहले ईरान के बादशाह नौशेरवान ने शुरू किया था। जब यह शब्द अरबों के बीच आया तो अरबी के फ़ार्मूले के हिसाब से 'ग' की जगह 'ज' हो गया और अरब *गिज़्या* के बजाए *जिज़्या* बोलने लगे क्योंकि अरबी में ''ग'' है ही नहीं।

इसलिए *जिज़्या* यानी टैक्स और ज़ाहिर सी बात है कि टैक्स देना, जबरन वसूली (Extortion) से अलग चीज़ होती है। ख़ुद मुसलमान भी तरह–तरह के टैक्स देते हैं। जो चीज़ ध्यान देने लायक़ है वह टैक्स की शक्ल है। *अहले किताब* के टैक्स उन टैक्सों से अलग हैं जो मुसलमान देते हैं। लेकिन इस थ्योरी के पीछे कोई दलील (Proof) नहीं है।

दूसरी बात यह है कि यह पूरी थ्योरी डिक्शनरी को सामने रखकर बनाई गई है। डिक्शनरी में कुछ भी हुआ करे, हम से क्या? हमें तो *जिज़्ये* के बारे में यह देखना है कि इस्लाम क्या कह रहा है।

जिज़्या बदला है या सज़ा?

असल में हमें देखना यह है कि इस्लाम जो *जिज़्या* वसूल करता है वह किसी चीज़ के बदले में होता है या

जबरन वसूली होती है जिसके बदले में *जिज़्या* देने वाले को कुछ भी नहीं मिलता?

अगर *जिज़्ये* के बाद इस्लाम अपने सर पर कोई ज़िम्मेदारी लेता है और *जिज़्या* देने वाले को कोई सहूलियत देता है तो फिर यह बदला है लेकिन अगर कुछ दिए बिना बस पैसे वसूल करता है तो फिर यह जबरन वसूली है।

जिज़्ये का एक रूप तो यह हो सकता है कि इस्लाम *अहले किताब* से *जिज़्या* वसूल करे लेकिन उसके बदले में उन्हें कुछ भी न दे और कोई ज़िम्मेदारी अपने सर न ले यानी उनसे पैसा ले और इस बात के लिए पैसा ले कि मुसलमान उनसे जंग नहीं करेंगे। अगर ऐसा है तो यह वही जबरन वसूली है। जबरन वसूली करना यानी ताक़त के बल पर ज़बरदस्ती वसूल करना यानी ताक़त वाला आदमी दूसरे कमज़ोर आदमी से कहे कि अगर तुम मेरे हमले से बचना चाहते हो तो तुम्हें मुझे इतना पैसा देना होगा कि मैं तुम पर हमला न करूँ, तुम्हें दुखी न करूँ। इसलिए पैसा दे दो और फिर आराम से रहो।

जिज़्ये का दूसरा रूप यह हो सकता है कि इस्लाम *अहले किताब* से *जिज़्या* तो वसूल करे लेकिन उसके बदले में उनकी कोई ज़िम्मेदारी भी अपने कंधों पर ले। अगर ऐसा है तो यह *जिज़्ये* का बदले वाला मतलब है।

जब हम इस्लाम के इस क़ानून पर ध्यान देते हैं तो देखते हैं कि *जिज़्या* उन *अहले किताब* के लिए है जो इस्लामी हुकूमत में रहते हैं, जो इस्लामी हुकूमत की जनता हैं। इस्लामी हुकूमत अपनी जनता के हाथ में कुछ ज़िम्मेदारियाँ भी देती है और फिर इसके बदले में अपनी जनता की कुछ ज़िम्मेदारियाँ उठाती भी है। जनता की ज़िम्मेदारी यह है कि वह कुछ टैक्स दे जिससे इस्लामी हुकूमत का ख़र्च चल सके। इन टैक्सों में वह टैक्स भी आता है जो ज़कात के नाम पर लिया जाता है और वह

टैक्स भी हैं जो दूसरे किसी न किसी नाम से वसूल किए जाते हैं।

दुनिया में कोई भी हुकूमत ऐसी नहीं है जिसका अपना कोई बजट न होता हो और वह सारा बजट या उसका एक भाग किसी न किसी तरह अपनी जनता से वसूल न करती हो। हुकूमत को बजट की ज़रूरत होती है और यह बजट भी डायरेक्टली या इन-डायरेक्टली टैक्सों से ही वसूला जाता है।

इस्लामी हुकूमत में जनता की दूसरी ज़िम्मेदारी यह है कि वह वक़्त पड़ने पर हुकूमत के लिए बलिदान देने और मुल्क के लिए लड़ने की पाबन्द हो। अगर कभी कोई ख़तरा आ जाए तो इसी जनता को अपने मुल्क का डिफ़ेंस करने के लिए आगे आना होगा।

अगर *अहले किताब* इस्लामी हुकूमत में रह रहे हैं तो न उन्हें वह सारे टैक्स देना हैं जो मुसलमानों पर वाजिब हैं और न उन्हें जिहाद करना है जबकि जिहाद से जो फ़ाएदा होगा वह उन्हें भी मिलेगा।

इसलिए जब इस्लामी हुकूमत अपनी जनता के अमन-शान्ति और सेक्योरिटी की गारन्टी लेती है और उसके लिए काम करने का वादा करती है -चाहे उसके अपने लोग हों या दूसरे- तो इसके बदले में जनता से भी कुछ माँगती है जो पैसे की शक्ल में भी हो सकता है और दूसरे किसी रूप में भी। इस्लामी हुकूमत *अहले किताब* से ज़कात या दूसरे टैक्सों के बजाए *जिज़्या* वसूल करती है, यहाँ तक कि जिहाद या जिहाद से जुड़े कामों के बदले में भी *जिज़्या* ही लेती है।

इसलिए इस्लाम के शुरू में ऐसा ही था। जब कभी *अहले किताब* ख़ुद से किसी जंग में मुसलमानों का साथ देने के लिए आ जाते थे तो मुसलमान उनके ऊपर से जिज़्या उठा लेते थे और उनसे कहते थे कि हम तुम लोगों से *जिज़्या* इसीलिए तो लेते हैं क्योंकि तुम लोग हमारी जंगों में लड़ने के लिए अपने सिपाही नहीं भेजते

हो। अब जबकि तुम जंग में हमारा साथ दे रहे हो तो हमें तुम से *जिज़्या* लेने का कोई हक़ नहीं है।

तफ़सीर *अल-मनार* में इतिहास की बहुत सी किताबों से बहुत सारे ऐतिहासिक तथ्य लिखे गए हैं जिनके हिसाब से इस्लाम के शुरू में मुसलमान *अहले किताब* से फ़ौजियों के बजाए *जिज़्या* लेते थे। मुसलमान *अहले किताब* से कहते थे कि तुम हमारी हुकूमत में रह रहे हो और हम तुम्हें सेक्योरिटी और शान्ति भी दे रहे हैं लेकिन तुम हमें अपनी फ़ौजी मदद नहीं देते [वैसे मुसलमान भी उनसे फ़ौजी मदद नहीं लेते थे] इसलिए फ़ौजियों की जगह पर *जिज़्या* दिया करो और अगर कभी मुसलमानों को उनके ऊपर भरोसा हो जाता था और वह उनके फ़ौजी ले लेते थे तो फिर उनसे *जिज़्या* नहीं वसूला करते थे।

इस तरह क़ानूनी हिसाब से इस्लामी हुकूमत में *जिज़्या* वह बदला है जो इस्लामी हुकूमत अपनी नॉन-मुस्लिम *अहले किताब* जनता से लेती है और यह बदला उस सर्विस के बदले में होता है जो इस्लामी हुकूमत उन लोगों को देती है और इसके बदले में वह उनसे फ़ौजी मदद नहीं लेती और न ही कोई दूसरा टैक्स लेती है।

यहीं से हमें उस पहले सवाल का जवाब भी मिल जाता है जिसमें कहा गया था कि इस्लाम *जिज़्ये* के लिए जंग से क्यों हाथ उठा लेता है? इसके जवाब में हम यह सवाल करेंगे कि इस्लाम जिहाद करता ही क्यों है?

इस्लाम में जिहाद अपनी आइडियॉलोजी या अक़ीदा दूसरों पर थोपने के लिए नहीं है बल्कि जिहाद इस्लाम के रास्ते में आने वाली रूकावटों को हटाने के लिए है। जब सामने वाला मुसलमानों से कहता है कि हमारी तुम से कोई जंग नहीं है जिसकी वजह से वह इस्लाम के रास्ते में कोई रूकावट खड़ी नहीं करता और जब इस्लाम के रास्ते में कोई रूकावट नहीं आती तो मुसलमानों को

भी चाहिए कि वह भी क़ुरआन करीम के उस हुक्म पर चलें जिसमें अल्लाह ने फ़रमाया हैः

اِن جَنَحُوا لِلسِّلمِ فَاجنَح لَهَا[1]

अगर वह झुक जाएँ और अमन-शान्ति के साथ अपने हाथ फैला दें तो फिर आप भी उन पर सख़्ती मत कीजिए और यह मत कहिए कि हम समझौता नहीं करेंगे बल्कि जंग करेंगे। अब जब वह भी मिलजुल कर रहने के लिए तैयार हैं तो आप को भी मिलजुल कर रहने का ऐलान कर देना चाहिए।

ऐ मुसलमानो! अब जबकि वह तुम्हारे साथ प्यार-मोहब्बत से रहना चाहते हैं और नतीजे में न ही इस्लामी टैक्स देते हैं और न ही फ़ौजी मदद और तुम्हें भी उनके फ़ौजियों पर भरोसा नहीं है तो अब उनमें से हर एक से *जिज़्ये* के नाम पर एक टैक्स लिया करो।

गुस्ताव लो बोन और जुर्जी ज़ैदान जैसे युरोपी और ईसाई इतिहासकारों ने इस बारे में अच्छी-ख़ासी बात की है। विल डुरान्ट ने अपनी किताब *दि स्टोरी ऑफ़ सिविलाइज़ेशन* के 11वें वॉल्युम में इस्लामी जिज़्ये के बारे में लिखा है और कहा है कि इस्लामी जिज़्या इतना कम हुआ करता था कि जो टैक्स मुसलमानों से लिए जाते थे यह उनसे भी कम होता था। इसलिए जिज़्ये में किसी भी तरह की नाइंसाफ़ी या ज़ुल्म का सवाल ही नहीं उठता।

*****

[1] सूरए अन्फ़ाल/61